ॐ
सिद्धेभ्य

सप्तव्यसनचरित्र

(सप्त व्यसनों के फल को प्राप्त जीवों की प्रेरणादायी कथाओं का संग्रह)

हिन्दी अनुवाद
उदयलाल काशलीवाल
बड़नगर

सम्पादन :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियां, भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

प्रकाशकीय

श्री सोमकीर्ति भट्टारक द्वारा संस्कृत भाषा में रचित सप्त व्यसनों के फल को दर्शाकर उनसे विमुख करनेवाली कथाओं का संग्रह सप्तव्यसनचरित्र प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है।

जिनागम में चार अनुयोगों में विभक्त है, जिसमें इस ग्रन्थ का समावेश प्रथमानुयोग के अन्तर्गत होता है। इसमें समाहित कथाओं के अध्ययन करने पर विदित होता है कि जीव किस तरह अपने आत्मस्वभाव को भूलकर दुर्व्यसनों में लगकर उसके भयंकर फलों को भोगता है और वही जीव उन व्यसनों से परिमुक्त होकर आत्मानुभवपूर्वक स्वरूप साधना की श्रेणियाँ चढ़ते हुए मुक्तिमार्ग की ओर अग्रसर होकर मुक्ति का वरण करता है। इससे यह तथ्य भलीभाँति प्रतिफलित होता है कि शुद्ध चैतन्य सत्ता में व्यसनादि के दुष्परिणामों का नितान्त अभाव है। इसलिए उस स्वभाव की साधना के बल पर एक समय की पर्याय की क्षणिक योग्यता में उत्पन्न हुए दुर्व्यसनों के परिणाम चैतन्यस्वभाव की स्मृति मात्र से पलायन कर जाते हैं।

हमारे जीवनशिल्पी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी एवं तद्भक्तरत्न प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन को प्रथमानुयोग के कथानकों के प्रति सहज ही अहोभाव उमड़ता था, जिसके प्रत्यक्ष दर्शन उनके प्रवचन एवं तत्त्वचर्चा में होते हैं। उन्हीं से प्रेरणा प्राप्त कर यह प्रस्तुत ग्रन्थ 'सप्तव्यसनचरित्र' लोकार्पित किया जा रहा है।

तदर्थ हम ग्रन्थकार श्री सोमकीर्ति भट्टारक एवं पूज्य गुरुदेवश्री तथा बहिनश्री के प्रति अपना हार्दिक बहुमान हर्षपूर्वक व्यक्त करते हैं।

इस ग्रन्थ का संस्कृत से हिन्दी अनुवादकार्य पण्डित उदयलालजी कासलीवाल द्वारा किया गया था। जो 1972 में प्रकाशित हुआ है। इसी ग्रन्थ को भाषा आदि की दृष्टि से सम्पादन एवं भाषा शुद्धि के साथ उपलब्ध कराया जा रहा है। इस कार्य को पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन (बिजौलियां-राजस्थान) ने साकार किया है। हम सभी के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

सभी साधर्मीजन इस चरित्र ग्रन्थ का स्वाध्याय कर निज-हित साधन करें - यही भावना है।

ट्रस्टीगण

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

मुम्बई

अनुक्रमणिका

पूर्व भूमिका	1
पहली द्यूत व्यसन कथा	5
दूसरी माँस व्यसन कथा	29
तीसरी मदिराव्यसन कथा	36
चौथी वेश्या गमन कथा	83
पाँचवीं शिकार व्यसन कथा	114
छठीं चौर्य व्यसन कथा	121
सातवीं परस्त्री व्यसन कथा	133

ॐ

॥ श्री वीतरागाय: नम: ॥

सप्तव्यसनचरित्र

(श्री सोमकीर्ति भट्टारक के संस्कृत ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद)

ग्रन्थ की आदि में–अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहरहित तथा संसारी जीवों के लिये उनकी अभिलाषा के अनुसार मनोरथ के पूर्ण करनेवाले श्री पंच परमेष्ठी को, कल्याण के परम्परा की लता और जिन भगवान के मुखकमल से उत्पन्न हुई श्री शारदादेवी को तथा गुरुओं के पदपंकज को सप्रमोद भक्तिपूर्वक नमस्कार करके जीवों के सुख के लिये अपनी बुद्धि के अनुसार सप्तव्यसनचरित्र के लिखने का प्रारम्भ करता हूँ।

उन व्यसनों के नाम ये हैं—

जुआ का खेलना, मांस का खाना, मदिरा का पीना, वेश्याओं का सेवन करना, शिकार का खेलना, चोरी का करना तथा पराई स्त्रियों के साथ व्यभिचार करना। इन सातों व्यसनों में से एक–एक व्यसन के सेवन से जिन–जिन लोगों ने अनेक तरह के दु:ख भोगे हैं, उन्हीं का विशेष चरित्र कहने की मेरी इच्छा है।

जुआ के खेलने से धर्मात्मा युधिष्ठिर महाराज ने अपना राज्य रसातल में पहुँचाया, माँस के खाने से वक्र नामक राजकुमार ने, मदिरापान से तेजस्वी यादवों ने, वेश्याओं के जाल में फँसकर चारुदत्त ने, शिकार के खेलने से ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने, चोरी के करने से

शिवभूति ब्राह्मण ने तथा दूसरे की स्त्री के केवल हरणमात्र से प्रतापी रावण आदि ने दारुण दुःख अनुभव किये हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि जब इन लोगों ने केवल एक-एक ही व्यसन के स्वीकार करने से दुःख भोगे हैं, तो अब बुद्धिमान पुरुष स्वयं विचार कर सकते हैं कि जो लोग सातों व्यसनों का सेवन करनेवाले हैं, उनका क्या होता है?

इन सातों व्यसनों के सम्बन्ध में किसने विचार किया, किसने उपदेश दिया और किसने पूछा; ये सब बातें खुलासा करने के लिये ग्रन्थकार थोड़े से में कथा के अवतार का सम्बन्ध कहे देते हैं—

सुप्रसिद्ध और विशाल जम्बूद्वीप में भारतक्षेत्र है। उसके अन्तर्गत मगधदेश में राजगृह नाम का सुन्दर नगर है। राजगृह महाराज श्रेणिक की राजधानी थी। उनकी धर्मपत्नी का शुभ नाम चेलनी था। श्रेणिक महाराज अपनी प्रजा का सुखपूर्वक पालन करते थे। इसी बीच में किसी समय श्रीवीरभगवान विपुलाचल के उपवन में पधारे। तब वनपाल भगवान के आगमन समाचार महाराज से निवेदन करने के लिये फल पुष्पादि पवित्र वस्तु लेकर राजसभा में गया। उसने फल पुष्प महाराज की भेंट करके कहा—विभो, आपके उपवन को श्रीवीरभगवान ने अपने चरणकमलों से पावन किया है। ऐसे वक्त में मेरा हृदय प्रेरणाकर यह कहलाना चाहता है कि—भगवान के आगमन जनित पुण्य से आप बहुत काल तक संसार सुख भोगें और दिनोंदिन राजलक्ष्मी भी आपकी अधिक-अधिक प्रणयिनी होवे।

महाराज ने जब यह सुना कि, श्रीवीरनाथ पधारे हैं, तब वे बहुत सन्तोषित हुए, और उन्होंने शुभ समाचार लानेवाले वनपाल

को बहुत से भूषण वस्त्रादि उपहार दिये। बाद सारे शहर में आनन्द घोषणा दिलवाकर भव्य लोगों को बुलवाया। फिर वे उनके साथ-साथ स्वयं भी पूजन सामग्री लेकर उपवन की ओर चले और दूर ही से भगवान का समवसरण देखकर हाथी पर से उतर पड़े। बीच में भगवान को विराजे हुए देखकर उन्होंने आनन्द भक्तिपूर्वक प्रदक्षिणा देकर नमस्कार किया। पश्चात्-जलादि द्रव्यों से भगवान की पूजन की और उनके लिये अंजलि ललाट पर लगाई। इसके अन्तर मनुष्यों की सभा में जाकर बैठ गये और वहाँ भगवान के उपदेश को श्रद्धापूर्वक सुनने लगे, जो सब जीवों के हित का एक अपूर्व साधन है। फिर सुअवसर देखकर उन्होंने भगवान से पूछा—

नाथ, यह जीव इस गहन संसार में किन कर्मों के द्वारा निरन्तर दु:ख भोगा करता है तथा ऐसे कौन कर्म हैं, जिनके द्वारा संसार के भीषण दु:खों से अपना अंचल छुड़ा लेता है। श्रेणिक महाराज के प्रश्न के उत्तर में भगवान कहने लगे—राजन्, संसार के दु:खों का कारण, जो तुमने पूछा सो बहुत अच्छा किया। इस विषय का विशेष खुलासा तो आगे चलकर कहूँगा परन्तु थोड़े से में यह समझो कि—यह आत्मा इस अपार संसार में सात व्यसनों के सेवन से अधिक दु:खों का अनुभव करता है। सो इन्हीं सातों व्यसनों में से जिन लोगों ने एक-एक के सेवन से दु:ख भोगे हैं, उन्हीं की कथा कहने का आरम्भ करता हूँ। इतने में राजा श्रेणिक भी बोले—दयानिधे, मेरी भी यही उत्कण्ठा है; सो आप सप्त व्यसनों के सेवन करनेवालों की कथा सुनाने का अनुग्रह करें। श्रेणिक के कहे माफिक श्रीवीरभगवान ने पापों के नाश करनेवाली पावन कथाओं के कहने का आरम्भ किया। इन कथाओं में यही बात बतलाई जायेगी कि—किन-किन लोगों ने व्यसनों के सेवन

से दु:ख भोगे हैं। जुआ के खेलने से युधिष्ठिर महाराज का अपने विशाल राज्य से अध:पतन हुआ और साथ ही उन्हें अनेक प्रकार के भीषण दु:ख सहने पड़े, यह बात संसार के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक प्रसिद्ध है, सो पहिले उन्हीं का उपाख्यान कहा जाता है। इसके सुनने से लोग सुमार्ग का अन्वेषणकर अपनी पापप्रवृत्ति का सुधार करेंगे।

पहली द्यूत व्यसन कथा

जम्बूद्वीप-भरतक्षेत्र-कुरुदेश में हस्तनागपुर नामक एक मनोहर नगर था। उसके राजा का नाम था धृत। धृत का जन्म कुरुवंश में हुआ था। ये नीतिज्ञ और बुद्धिमान थे। इनके तीन स्त्रियाँ थीं। उनके क्रम से अम्बा, बालिका तथा अम्बिका नाम थे। तीनों के धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर ये तीन पुत्र क्रम से हुए। इनमें धृतराष्ट्र की स्त्री का नाम गान्धारी था और पाण्डु की दो स्त्रियाँ थीं। उनका नाम कुन्ती तथा मद्री। इनमें धृतराष्ट्र के तो दुर्योधनादि पुत्र हुए और पाण्डु की कुन्ती नामक स्त्री के युधिष्ठिर, भीम तथा अर्जुन और मद्री के सहदेव और नकुल पुत्र हुए। कुन्ती का कन्या अवस्था ही में पाण्डु के साथ सम्बन्ध हो जाने से कर्ण पहले ही हो चुका था।

इस तरह महाराज धृत अपने पुत्र-पौत्रादि सहित आनन्द भोगते हुए सुखपूर्वक अपनी प्रजा का पालन करते थे। सो उन्होंने किसी दिन शरदऋतु में गगनमण्डल में बादल देखा। वह बहुत दूर होने से महल के ऊपर भाग से बहुत सुन्दर दिख पड़ता था। उसकी मनोहरता पर महाराज धृत मुग्ध हो गए, सो उन्होंने उसी समय चित्रकारों को बुलवाकर उनसे कहा—चित्रकारो, देखो तो यह बादल का भाग कितना सुन्दर है तुम जल्दी से इसका चित्र खींच दो। हमारी इच्छा है कि हम अपने महलों को इसी ढंग से बनवावैं। महाराज की आज्ञानुसार चित्रकारों ने सब तरह के रंगों को जल्दी से मंगवाकर बादल का चित्र खींचना चाहा कि इतने ही में वायु के चलने से बादल खण्ड-खण्ड होकर न मालूम कहाँ देखते-देखते अन्तर्हित हो गया। तब भय से डरते-उरते बेचारे चित्रकार लोग महाराज से प्रार्थना करने लगे—महाराज, वायु वेग से बादल कहाँ

चले गये, यह हम नहीं कह सकते। राजा ने बादलों की जब यह दशा देखी, तब उन्हें संसार से बहुत वैराग्य हुआ। और साथ ही चिन्ता ने उनके मन में अपना अधिकार जमाया। वे विचारने लगे कि, अहो जिस प्रकार ये बादल आँखों के देखते-देखते नष्ट हो गए, उसी तरह यह संसार भी तो क्षणभंगुर है। यह पुत्र, पौत्र, स्त्री तथा और-और बन्धुजनों का जितना समुदाय है, वह सब दुःख का देनेवाला है और इसी के मोह में फँसकर यह जीव नाना प्रकार के दुःखों को भोगता है। जिन उत्तम पुरुषों ने मोह के पंजे में से अपने आत्मा को छुटाकर दिगम्बरी दीक्षा गृहण की है, वे ही इस गहन संसार से पार होकर अखण्ड शिवसुन्दरी के सुख के भोगनेवाले हुए हैं। इसलिए मुझे भी यही उचित है कि—पुत्र, बन्धु तथा धनादि का सम्बन्ध छोड़कर अविनश्वर मोक्षमहल की देनेवाली जैनेन्द्री दीक्षा स्वीकार करूँ। इसके बाद अपने विचारानुसार महाराज धृत ने बड़े पुत्र धृतराष्ट्र के लिये तो कुल परम्परागत राज्य का भार सौंपा और पाण्डु को युवराज पद देकर विदुर के साथ-साथ मोक्षसुख की साधना जिनदीक्षा स्वीकार की। जिनदीक्षा का लाभ कुगति में जानेवाले लोगों के लिये बहुत कठिन है। आगे धृतमुनि ने तो कितने दिनों तक कठिन से कठिन तपश्चरण कर घातियाकर्मों का नाम शेष किया और केवलज्ञानी होकर सदा के लिये मोक्षपद प्राप्त किया और विदुर मुनिराज पृथ्वी तल में विहार करने लगे।

उधर धृतराष्ट्र पाण्डु के साथ-साथ राज्य का पालन करते थे। प्रजा का पालन करते हुए इन दोनों का बहुत समय सुखपूर्वक बीत गया, परन्तु इन्हें उसका कुछ परिज्ञान नहीं हुआ। एक दिन दोनों भाईयों ने एक भ्रमर को कमल के भीतर मरा हुआ देखा, सो उसके देखनेमात्र से इन्हें बहुत वैराग्य हुआ। उन्होंने उसी वक्त अपने सारे

राज्य के दो विभाग करके एक भाग दुर्योधनादि के लिये और एक भाग पाण्डु के युधिष्ठिर आदि पाँचों पुत्रों के लिये दे दिया। और स्वयं पाण्डु के साथ-साथ जिनदीक्षा अंगीकार कर दु:सह तपश्चरण करना आरम्भ किया। उधर कौरव और पाण्डवों का परस्पर में इतना स्नेह बढ़ा और ये लोग सुख भोगने में इतने आसक्त हो गये कि, काल की गति को भी नहीं जान सके। कौरवों के मामा का नाम शकुनि था। उसने राज्यविभाग की व्यवस्था देखकर विचारा कि आधा राज्य केवल पाँच पाण्डवों के लिये दिया गया है। इससे ये लोग तो बड़े ही प्रतापी मालूम होते हैं। परन्तु कौरवों का प्रताप कुछ भी मालूम नहीं पड़ता है, क्योंकि ये सौ हैं, और राज्य उन्हीं के बराबर आधा है। इससे तो इन लोगों का वस्त्र-शस्त्रादि प्रबन्ध भी ठीक-ठीक नहीं हो सकेगा, फिर हम लोग क्या करेंगे? सच है प्रीति सब जगह धन के पीछे हुआ करती है। इस विचार से उसने और कुछ उपाय न देखकर पाण्डव और कौरवों के प्रेम में बाधा डालना आरम्भ किया। कौरवों के कान भरे गये कि तुम्हें कुछ ख्याल भी है? कहाँ तो तुम सौ लोगों के लिये आधा राज्य और कहाँ इन पाँच पाण्डवों के लिये आधा राज्य! देखो, इस राज्य सम्पदा से ये लोग कैसे तेजस्वी दिखते हैं? इन लोगों के सामने तुम लोग तो ऐसे मालूम होते हो, जैसे मुरझाये हुए कमल की कलियाँ! ठीक तो यह है कि सब वेषों में धन ही का वेष उत्तम गिना जाता है। तुम्हीं यह बात सोचो कि—जितना राज्य पाँच जनों को दिया गया, उतना ही सौ जनों के लिये देना उचित था क्या? इस तरह शकुनि के प्रतिदिन उत्तेजित करते रहने से कौरवों की प्रकृति में दुष्टता आ गई। बुद्धिमान दुर्योधन ने अपने उत्तेजित भाईयों को उस वक्त तो किसी तरह समझा-बुझाकर शान्त कर दिया, पीछे कुछ

समय बीत जाने पर उसने अपनी बुद्धि से कल्पना कर लाख का एक सुन्दर महल बनवाया, जिसके ऊपर नीचे जहाँ देखों वहीं, लाख ही लाख लगी थी। जब महल बनकर तैयार हो गया, तब एक दिन उसने पाण्डवों को भोजन के लिये निमन्त्रित किया। निमन्त्रण के अनुसार पाण्डव अपनी माता कुन्ती को साथ लेकर आये। आते ही वे नवीन महल की अपूर्व शोभा देखकर मुग्ध हो गये। दुर्योधन ने महल के भीतर लिवा ले जाकर इन लोगों का खूब अतिथि-सत्कार किया और सोने आदि का भी ठीक-ठीक प्रबन्ध करवा दिया, जिससे ये लोग रात्रि यही बितावें।

धीरे-धीरे सूर्यदेव भी अस्ताचल पर पहुँचे। कुछ रात्रि बीती। निद्रा का अवसर आने पर पाण्डवों ने वहीं शयन किया। उनकी आँख लगी ही थी कि, कौरवों ने अपनी दुष्टता से महल में अग्नि लगा दी। लाख के कारण अग्नि ने भीषण भयंकरता धारण की। किवाड़ों की सन्धियाँ मिलने लगीं और लाख गल-गलकर पाण्डवों के ऊपर गिरने लगी उसके गिरते ही पाण्डवों की निद्रा टूटी। उन्होंने कौरवों की दुष्टता समझ ली। अब बाहर निकलने के लिये कठिनता आई। किसी को मालूम नहीं कि — निकलने का रास्ता किधर है। सहदेव ज्योतिष शास्त्र का अद्वितीय विद्वान था। उससे निकलने का मार्ग पूछा गया, तो उसने विचार कर उत्तर दिया कि बाहर निकलने के लिये यहाँ एक सुरंग है, उसी में से हम लोग निकल सकेंगे। यह सुनते ही भीम ने यहाँ-वहाँ देखना आरम्भ किया। एक स्थान में उसे एक शिला मालूम पड़ी, जिसे अपने भीमबल से उठाकर उसने सुरंग का मार्ग निष्कण्टक कर दिया। उसी रास्ते से कुन्ती को लेकर पाण्डव लोग निर्विघ्न बाहर निकल गये।

पाण्डव लोग फँसे तो थे बड़ी भारी भीषण विपत्ति में, तो भी

सौभाग्य से बाहर निकल आये। सच है, दुष्टों की दुष्टता पुण्यवानों का कुछ नहीं बिगाड़ सकती। वहाँ से गुप्तरीति से निकलकर पाण्डव लोग इच्छानुसार पृथ्वी में घूमते हुए तथा तपस्वियों के स्थानों को और नाना तरह के सुन्दर-सुन्दर वनों को देखते हुए हस्तनागपुर पहुँच गये। उधर कौरवों की निन्दा होने लगी। सब लोग उनकी दुष्टता जान गये। ठीक कहा है—जो लोग बुरे काम के करनेवाले हैं, उनके निर्मलता कहाँ से आवे? वे तो मलिन होते ही हैं।

पाण्डव लोग इसी तरह वसुन्धरा की शोभा देखते हुए पीछे लौटे और माकंदी नगरी में आ पहुँचे। नगरी बड़ी ही सुन्दर थी। उसे कवि लोग स्वर्गपुरी बताते थे। उसके स्वामी थे द्रुपद। उनकी महारानी का नाम जयावती था। और उसके गर्भ से उत्पन्न हुई राजकुमारी का नाम द्रौपदी था। द्रौपदी पृथ्वी भर में प्रसिद्ध थी। जब महाराज द्रुपद ने देखा कि—पुत्री युवती हो गयी है, तब उन्हें विवाह की चिन्ता ने चिन्तित किया। सच है—उत्तम पुरुषों को पुत्री की बड़ी ही चिन्ता होती है। उन्होंने अपने मन्त्रियों से पूछा कि—मुझे कन्या के विवाह की बड़ी ही चिन्ता है। यह युवती राजकुमारी किस उत्तम वर के लिये प्रदान की जाए? विचार कर जल्दी उत्तर दो, जिससे मेरे ऊपर से यह चिन्ता का भार उतरे। मन्त्रियों ने विचार करके महाराज को यह सलाह दी कि—महाराज, प्रौढ़ कन्या का तो स्वयंवर ही करना सबसे उत्तम है। मन्त्रियों की सम्मति से महाराज चित्त में बहुत कुछ सुखी हुए। उन्होंने उसी समय शुभ मुहूर्त तथा शुभयोग देखकर पुत्री का स्वयंवर समारम्भ करवाया। देश-देश के राजा-महाराजाओं के लिये निमन्त्रण भेजा गया। दुर्योधन आदि सभी बड़े-बड़े राजा लोग आये। उस वक्त यह

निश्चय किया गया कि—जो इस राधावेध को बेधैगा, वही कन्या का स्वामी हो सकेगा। उसी के हृदय में द्रौपदी वरमाला डालेगी।

दैवयोग से पाण्डव भी वहाँ आ गये। इन्हें वे लोग न जान सकें, इसलिए ये अपने खास वेष को पलटकर गुप्तरीति से रहा करते थे। स्वयंवर के लिये आये तो बड़े-बड़े दूर देश के राजा लोग, परन्तु उनमें किसी की हिम्मत न हुई कि, राधावेध को वेधें। सबके चेहरे फीके पड़ गये। इतने में अर्जुन ने उठकर कहा कि—जो मनुष्य इस राधावेध को बेधेगा, उसे कन्या मिलने में कुछ सन्देह तो नहीं है? उसके कुलहीन जातिहीन होने से कोई बाधा तो नहीं आवेगी? यदि ऐसा हो तो मैं भी अपने पुरुषार्थ की परीक्षा करूँ। सब राजाओं ने हँसकर कहा कि—क्या तुम पार्थिव (अर्जुन) हो, जो ऐसे निर्भय होकर बोल रहे हो? अर्जुन ने कहा—क्या पृथ्वी में एक ही पार्थिव है? दूसरा नहीं है? राजा लोगों ने कहा—हाँ, पृथ्वी में इस विषय का जाननेवाला एक अर्जुन ही है। उसके समान अभी तक और कोई नहीं सुना गया है।

अर्जुन ने कहा—अस्तु, इससे आपको क्या? मैं कोई भी क्यों न होऊँ? आपको तो काम से काम है विवाद से कुछ प्रयोजन नहीं है। राजा लोग कहने लगे—हमें इससे कुछ मतलब नहीं कि—तुम्हारी जाति तथा कुल क्या है, तुम अपने कर्तव्य पूरा करो। उन लोगों के कहने के अनुसार वली अर्जुन कमर बाँधकर राजा लोगों के आगे खड़ा हुआ और हाथ में धनुष लेकर बोला—आप जानते हैं, यह मेरा सुन्दर धनुष है। मैं इसे आप लोगों को इस अभिप्राय से देना चाहता हूँ कि आप लोग इसे चढ़ावैं। नहीं तो पीछे आप लोग यह कहेंगे कि इसे तो हम भी चढ़ा लेते। राजाओं ने कहा—नहीं, नहीं, तुम ऐसा न समझो। इस विषय में तुम पराक्रमी जान

पड़ते हो, इसलिए इसे तुम ही चढ़ा सकोगे और साधारण लोग नहीं चढ़ा सकते। उन लोगों के कहते ही वीर अर्जुन ने सभी के देखते-देखते धनुष को ऐसे जोर से चढ़ाया कि उसके शब्द को मेघ गर्जन समझकर मोर शब्द करने लगे। धनुष चढ़ाकर अर्जुन ने फिर भी कहा कि—जो अब तो इस पर प्रत्यंचा भी चढ़ा दी गई, आप लोग इसके द्वारा निशाना वेधैं। सभी ने उत्तर में यही कहा, यह धनुष तुम्हारे ही योग्य और उत्तम है। उनके कहते ही अर्जुन ने ऊपर को मुट्ठी और नीचे को दृष्टि करके राजा लोगों को देखते-देखते राधावेध को वेध दिया। वेध होते ही द्रौपदी सोने की झारी तथा एक सुन्दर माला लेकर आयी और उसने पाँचों पाण्डवों के बीच में बैठे हुए बुद्धिमान अर्जुन के कण्ठ में माला डाल दी। इतने में वायु के अधिक वेग से माला उड़ पड़ी। माला के उड़ते ही सब लोगों में बड़ा भारी हल्ला मच गया। वे कहने लगे कि द्रौपदी अपने धर्म से भ्रष्ट है। इसने इन पाँचों को पति बनाया है। राजा लोग भी बिगड़ पड़े और कहने लगे कि—हमारे बैठे हुए इसने इस भिखारी को क्यों पति बनाया? सब मिलकर युद्ध की तैयारी करने लगे। इतने में उन लोगों में से किसी ने कहा—पहले दूत भेजकर उससे कन्या लौटाने के लिये कहलवाना चाहिए और यदि वह स्वीकार न करे, तो फिर युद्ध तो बना बनाया है ही। विचार के अनुसार दूत भेजा गया। दूत ने जाकर अर्जुन से कहा—तुम्हें चाहिए कि राजकुमारी को राजा लोगों के लिये देकर तुम सुखपूर्वक रहो। राजकुमारी ने बड़ी भारी मूर्खता की, जो राजा लोगों को छोड़कर तुम्हें अपना स्वामी बनाया। तुम बुद्धिमान हो, हृदय में विचार कर कुमारी को राजाओं के लिये दे दो और अच्छी तरह जीवन-यात्रा करो। उत्तर में अर्जुन ने दूत से कहा—तुम जाओ और अपने

स्वामी से जाकर कह दो—कि सीधी तौर से तो हम राजकुमारी को नहीं देंगे, हाँ, यदि कोई युद्धभूमि में बहादुरी से ले सके, तो ले लेवे। क्या तुमने कभी किसी को अपनी बल्लभा यों ही देते हुए देखा-अथवा सुना है। तुम्हारी स्वामियों में ऐसी दुर्बुद्धि क्यों उत्पन्न हुई? यदि उन्हें लेने की इच्छा है, तो रण में आवैं। क्रोध में आकर अर्जुन ने दूत को उसी वक्त निकलवा दिया। दूत ने जाकर यह सब हाल राजा लोगों को सुना दिया। सुनते ही वे बड़े बिगड़े और युद्ध के लिये तैयार हो गये।

अर्जुन ने देखा कि वीर लोग युद्धभूमि में इकट्ठे हो रहे हैं। इससे उसे बड़ा ही क्रोध आया। वह उसी वक्त ससुर के साथ-साथ युद्ध के लिये निकल पड़ा। दोनों ओर से योद्धाओं की मुठभेड़ हो गयी। घोर युद्ध होना आरम्भ हुआ। अर्जुन ने राजाओं को भय से व्याकुल कर दिया। दुर्योधन यह देखकर कि सेना का सर्वनाश हुआ जाता है, उसी वक्त अपने गांगेय (भीष्म) आदि वीरों को साथ लेकर युद्धभूमि में आ उपस्थित हुआ। अर्जुन ने गांगेय को देखकर विचारा कि—ये तो मेरे पूज्य हैं। मेरे हाथ से इनका वध क्यों कर हो सकेगा? निदान उसने एक बाण पर अपना नाम लिखकर उसे भीष्म पर फैंका। जब वह भीष्म की गोद में जाकर पड़ा, तब उन्होंने उसे वाँचा और वहाँ अर्जुन का आना समझकर दुर्योधन से कहा—तुम जानते हो, ये लोग पाण्डव हैं और ठीक भी है कि पाण्डवों के बिना ऐसा पुरुषार्थ किसका हो सकता है? दुर्योधन ने पूछा—आपने यह कैसे जाना कि ये पाण्डव हैं? तब गांगेय ने अर्जुन के नाम का बाण दिखला दिया। उसे वाँचकर बेचारे दुर्योधन की रही सही हिम्मत भी जाती रही। वह दु:ख के साथ किसी तरह रथ से नीचे उतरा और माया से आँखों में आँसू लाकर तथा भेंटने

के लिये अकबार पसारकर पाण्डवों के सामने गया और बहुत दु:खी होकर रोने लगा। तथा गद्‌गद स्वर से बोला—नाथ, मैं बड़ा ही अभागा हूँ। लोक निन्दा से मेरा हृदय जला जा रहा है। मैं तो निराश हो चुका था, परन्तु अच्छा हुआ, जो आप सब मेरे पुण्य के उदय से आ गये। न तो मैंने यह जाना था कि वह घर लाख का बना हुआ है और न मैंने उसे जलाने का उद्योग ही किया था। परन्तु तो भी लोगों ने मुझे ही अपराधी ठहराया। मेरा नाम बड़ा भारी बदनाम हुआ। परन्तु यह नियम है कि, जो शुद्ध चित्त के आदमी होते हैं, वे पापी कभी नहीं होते—उन्हें कलंक नहीं लगता। यही कारण है कि जो मेरे पुण्य से आप लोग पीछे आ मिले। उस समय कौरव और पाण्डव परस्पर प्रेमपूर्वक मिले। सब लोगों के चित्त में बड़ा ही आनन्द हुआ। फिर शुभ मुहूर्त तथा उत्तम योग में अर्जुन का विवाह द्रौपदी के साथ हो गया। सब लोग विवाह करके अपनी-अपनी राजधानी में गये। कौरव और पाण्डव भी साथ-साथ अपनी राजधानी में गये। पहले की तरह वे सब प्रीतिपूर्वक रहने लगे और परस्पर एक-दूसरे का विश्वास करने लगे।

कुछ काल के अनन्तर फिर उसी शकुनि ने इन लोगों की परस्पर मैत्री को बिगाड़ना आरम्भ किया। सच है—दुष्टों का यह स्वभाव ही होता है जो उन्हें बिना दूसरों को परस्पर लड़ाये भिड़ाये सुख ही नहीं होता। आकाश में चाँदनी को देखकर कुत्ते के बिना और कौन भोंकता है? निदान शकुनि ने किसी न किसी तरह उनके स्नेह को तोड़ ही डाला। सच है, स्नेह के (तेल) के निकल जाने पर खल (खली) में प्रीति (सचिक्कणता) कहाँ रह सकती है? अब कौरव लोग पाण्डवों के दोष ढूँढने लगे। जैसे उत्तम पुरुषों के पीछे शाकिनी लग जाती है।

एक दिन युधिष्ठिर के जी में आया कि—जुआ खेलना चाहिए। उन्हें यह विचार क्या सूझा, यों कहना चाहिए कि आज ही से इनके भाग्य का चमकता हुआ सितारा अस्त होने लगा। दुर्भाग्य ने भी उस समय युधिष्ठिर को ऐसी प्रेरणा की कि उन्हें बिना जुआ खेले एक दिन भी चैन नहीं पड़ती थी, वे प्रतिदिन जुआ खेलते थे। एक दिन सभा में कौरव और पाण्डव बैठे थे, वही पर युधिष्ठिर दुर्योधन के साथ जुआ खेलने लगे। दुर्योधन का पाशा पड़ता तो बहुत उत्तम था, परन्तु भीम के हुंकार से वह उल्टा हो जाता था। उसे बड़ी ही चिन्ता हुई। वह भीम के वहाँ से चले जाने का उपाय सोचने लगा। इतने ही में दुर्बुद्धि ने उसका साथ दिया। दुर्योधन भीम से बोला—महाभाग, इस समय मुझे खूब प्यास लग रही है, उसके मिटाने का उपाय तुझे ही करना चाहिए। क्योंकि उसके लिये तू ही समर्थ है। भीम ने कहा—आप घबरावें नहीं, मैं अभी कर्पूर आदि वस्तुओं से सुगन्धित और शीतल जल आपके लिये लाता हूँ। दुर्योधन बोला—नहीं, नहीं, ऐसा जल तो मुझे अच्छा ही नहीं लगता। ऐसे जल के लानेवाले तो मेरे यहाँ भी बहुत हैं। भीम ने कहा—तो जैसा जल आप चाहते हैं, वैसा ही मैं ला सकता हूँ, आप अपने चित्त की बात बतावें। दुर्योधन बोला—गंगा का जो अगाध जल से भरा हुआ ह्रद है, उसमें कमरतक पैठकर तुम अपनी गदा से पानी का घात करना और उससे जो पानी के छींटे उड़ें, मुझे उनके पीने की रुचि है। यह सुनकर यद्यपि भीम की इच्छा नहीं थी, तो भी वह लज्जा के वश जल लेने के लिये चला गया। उसे गये हुए दो पहर हो गये। इधर दुर्योधन की बन पड़ी। उसकी जीत का पांसा पड़ने लगा। युधिष्ठिर महाराज ने पहले अपना खजाना हारा, दूसरी बार देश हारा, तीसरी बार हाथी और चौथी

बार घोड़े हारे। पाँचवीं बार सारे वाहन और गाय-भैंस आदि हारे। अन्त में वे द्रोपदी सहित अन्त:पुर भी हार गये। इसके बाद कुछ भूषणादि बचे थे, सो आठवीं बार वे भी सब हार गये। इतने में भीम जल लेकर आ गया। दुर्योधन से बोला—लीजिये, मैं आपके लिये जल लाया हूँ। इसे पीकर अपनी प्यास का उपशम कीजिए। दुर्योधन ने कहा कि—अब तो मुझे प्यास नहीं है। भीम को इससे बड़ा ही आश्चर्य हुआ। परन्तु जब उसने युधिष्ठिर को बिल्कुल निष्प्रतिभ देखा-कुम्हलाया हुआ पाया, तब दुर्योधन की सब चालाकी समझ ली। जान लिया कि, इसने मुझे बड़ा भारी धोखा दिया। इसका भीम को बहुत दु:ख हुआ। इसी समय दुर्योधन युधिष्ठिर से बोला—युधिष्ठिर, तुम जानते हो कि जो लोग अपना गौरव रखना चाहते हैं-जो शूरवीर होते हैं और जो बिल्कुल सत्य बोलनेवाले होते हैं-उन्हें दूसरों का देश, दूसरों का घर अच्छा नहीं लगता है। वे ऐसी जगह रहने में अपनी अवहेलना समझते हैं। क्योंकि दूसरों की वसुन्धरा उनके लिये लघुता की कारण है। देखो, इसे तो जगत जानता है कि सूर्यमण्डल को प्राप्त होकर चन्द्रमा भी छोटा हो जाता है। यही हालत दूसरों के घर पर रहनेवाले सभ्य तथा गुणवानों की भी होती है। इसलिए तुम्हें अपने भाईयों के सहित यहाँ मेरे देश से शीघ्र चले जाना चाहिए। दुर्योधन के वचन युधिष्ठिर के हृदय में शूल सरीखे चुभ गये। वे उसी वक्त उठकर जाने के लिये तैयार हो गये। उनका तेज मलीन हो गया। उनके पीछे-पीछे द्रौपदी भी जाने के लिये तैयार हुई। यह देखकर पापी दुर्योधन बोला—द्रौपदी, तुम्हें युधिष्ठिर हार चुके हैं, इसलिए अब तुम्हें हमारे अन्त:पुर में रहना होगा? परन्तु उसके वचनों का कुछ भी ख्याल न कर जब द्रौपदी चलने लगी, तब पापी दुर्योधन

ने उसका अंचल पकड़ लिया। जब अंचल के पकड़ लेने पर भी वह साध्वी नहीं ठहरी—वस्त्र उसके हाथ में आ गया और द्रौपदी की ओर देखता है, तो वह वस्त्र से ढँकी हुई है, तब उसने लपक कर फिर भी उसका वस्त्र पकड़कर खींचा। परन्तु इस बार भी द्रौपदी वैसी की वैसी वस्त्र से ढँकी रही। इस तरह उस दुराचारी ने बेचारी सीधी-सादी द्रौपदी पर सात बार बलात्कार कर हाथ चलाया, परन्तु उस सती के अप्रतिभ शील ने उसे वस्त्रहीन न होने दी। धर्मशील युधिष्ठिर महाराज यह सब पापकर्म आँखों से देखते रहे परन्तु उन्होंने अपने हृदय में विकार न होने दिया। पर जब मन्त्रियों से दुर्योधन की दुष्टता न देखी गयी और उन्होंने उसे धिक्कार कर कहा कि—पापी, क्यों इस सती को क्रोधित करके यम के घर का अतिथि बनना चाहता है? तब कहीं उस दुष्ट ने द्रौपदी का पीछा छोड़ा। निदान वह स्वामी के पीछे हो ली। लोग यह देखकर कहने लगे कि शील सब जगह सहायक होता है।

भीमसेन वगैरह ने अपने बड़े भाई से कहा—आपने दुर्योधनादि को पृथ्वी हार दी है, इसलिए अब हम युद्धक्षेत्र को चलते हैं। अर्थात् वहाँ युद्ध करके उसको फिर छीन लेंगे। इस पर युधिष्ठिर ने कहा—तुम कहते हो, वह ठीक है, परन्तु बुद्धिमानों को यह उचित नहीं। उनका तो कर्तव्य है कि जो मुँह से वचन निकल जावें, उनका पालन करें। जो पृथ्वी हारकर मैंने दुर्योधन के लिये दे दी है, उसे मैं वापिस कैसे ले लूँ? क्या इससे मेरी सत्यता में लांछन न लगेगा?

भाइयों, देखो! सारे राज्य को तृण की तरह छोड़कर जब ये पाँचों भाई निकल गये, तब तुम यह बात नियम से समझो कि—

जुआ के खेलने से जीवों को दुःख ही होता है। लोग देखते हैं और ये पाँचों भाई पैदल चले जा रहे हैं। उन्हें इनकी दारुण दशा पर बड़ा ही दुःख होता है। दृढ़ प्रतिज्ञ पाण्डव द्रौपदी को साथ लेकर धीरे-धीरे नगर से बाहर निकले। तेजस्विता सब नष्ट हो गयी। उस समय लोगों के लिये यह विषय एक किंवदन्ती सा हो गया। सब यही कहने लगे—देखो, जुआ के खेलने का फल! जो ऐसे तेजस्वी लोग भी नगर से निकले जा रहे हैं।

ये पुर से निकलकर इच्छानुसार धीरे-धीरे चलने लगे। चलते-चलते जब इनसे द्रौपदी ठहरने के लिये कहती, तब इन्हें वहीं ठहर जाना पड़ता था। बेचारी थी तो स्त्री ही न? वह चलना क्या जाने? कभी महल से नीचे भी तो उतरी नहीं थी। कहीं सुख कहीं दुःख, कहीं ग्राम कहीं वन, कहीं भोजन कहीं भीख और कहीं शय्या कहीं ककरीली भूमि; इसी तरह उनके बहुत दिन बीत गये। सच है—धैर्यशाली मनुष्यों के चित्त में कभी सुख-दुःख का ख्याल नहीं होता। अनेक वन, देश, पुर तथा ग्रामादि में घूमते हुए और फलादि से अपना निर्वाह करते हुए निश्चलप्रतिज्ञ शूर पाण्डव सुख-दुःखपूर्वक कई वर्षों में घूमते-घूमते विराटपुर शहर में आ निकले। वहाँ के राजा का नाम भी विराट ही था। ये लोग इस नगर में नाना प्रकार का वेष धारण कर राजा के पास गये। उनमें युधिष्ठिर महाराज भाट बने थे, भीम रसोइये के रूप में थे, अर्जुन ने कंचुकी का रूप धारण किया था, सहदेव ज्योतिषी बने थे, नकुल सहीस बना था और द्रौपदी मालिन बनी थी। राजा इनसे प्रसन्न हुआ और उसने जो जिस वेष में था, उसे उसी के अनुरूप कार्य में नियुक्त कर दिया। सब लोग राजा के सेवक बनकर रहने लगे।

विराट के एक सुन्दर स्त्री थी। वह सर्व गुणों से भूषित थी। इसका भाई अर्थात् महाराज का साला कीचक एक दिन अपनी बहिन से मिलने के लिये आया। अन्त:पुर में इसने मालिन के वेष में द्रौपदी को देखा। देखते ही कामबाण से घायल हो गया और प्रतिदिन द्रौपदी से अपनी बुरी वासना जाहिर करने लगा। सती द्रौपदी लज्जा के मारे उससे कुछ नहीं कहती थी। परन्तु जब देखा कि इस दुष्ट की पापवासना ऐसे नष्ट न होगी, तब उसने एक दिन भीम से उसका सब हाल सुना दिया। भीम ने द्रौपदी से कहा—तुम डरो मत, सब अच्छा होगा। देखो, नगर के बाहर एक महादेव का मन्दिर है। किसी तरह इसे धोखा देकर वहाँ लिवा ले जाना। इसके कर्म का फल मैं इसे वहीं भुगता दूँगा। भीम के कहने के माफिक दूसरे दिन द्रौपदी कीचक से बोली—जिस तरह तुम मुझे चाहते हो, उसी तरह मैं भी तुम्हें चाहती हूँ। सो आज ही तुम्हारा हमारा समागम नगर के बाहर महादेव के मन्दिर में होगा। द्रौपदी के इस तरह इच्छा जाहिर करने पर वह बहुत ही सन्तुष्ट हुआ और नाना तरह की शृंगार सामग्री लेकर रात्रि के वक्त महादेव के मन्दिर में गया। वहीं भीम द्रौपदी के रूप में गुप्त रीति से बैठा हुआ था। यह अपने हिताहित को न जानकर द्रौपदी के प्रेम से अकेला ही मन्दिर के भीतर घुस गया और काम से पीड़ित होकर बोला—प्यारी मालिन, तुम नहीं जानती कि आज तुम्हारा अहोभाग्य है, जो मेरा प्रेम तुम पर हुआ। आओ, आओ, अब देर न करो और मुझे हृदय से लगाओ। तुम जो चाहोगी, वही तुम्हें दूँगा। तुम्हें अपने अन्त:पुर की प्रधान रानी बना दूँगा। मैं तुम्हारे प्रेम के पीछे हूँ। इसके उत्तर में द्रौपदी ने कहा—आपका कहना वास्तव में ठीक है। मेरा अहोभाग्य, जो आप यहाँ आये। जैसा आप कहते हैं, मैं वही करूँगी। क्योंकि

जैसा मुझ पर आपका प्रेम है, वैसा ही मेरा भी है। कीचक ने कामविकार से व्याकुल होकर ज्यों ही द्रौपदीरूप भीम को अपनी भुजाओं से आलिंगन करना चाहा, त्यों ही भीम ने आलिंगन के ही छल से उसे भुजाओं के बीच में पकड़कर इतना जोर से दबाया कि उसकी चेतना तक विदा हो गयी और वह मूर्छित हो गया। थोड़ी बाद जब उसे सचेत हुआ, तब वह भीम को नमस्कार कर सीधा तपोवन की ओर चल दिया। उसे इस दु:ख से बहुत वैराग्य हुआ। सो उसी वक्त किसी निर्जन वन में जाकर कीचक ने दोनों लोक में सुख देनेवाली जिनदीक्षा ले ली। जब प्रात:काल हुआ और कीचक के नौकरों ने उसे न देखा, तब वे चारों ओर उसकी खोज में निकले। परन्तु जब कहीं भी उसका पता न लगा, तब उन्होंने यह सब हाल महाराज विराट से जाकर कहा। उस समय राजा ने यह समझकर कि कहीं यह अपने देश में न चला गया हो, एक मनुष्य को पता लगाने के लिये भेज दिया। उसने जाकर उसके भाईयों से पूछा—क्या कीचक यहाँ भी नहीं आया? यह सुनकर कीचक के भाईयों को बड़ा ही सन्देह हुआ। वे सौ के सौ भाई वहाँ से कीचक की खोज में ग्राम-ग्राम देखते तथा लोगों से पूछते हुए निकल पड़े। जब विराटनगर में आये, तब उनसे किसी ने कहा—शहर बाहर के मन्दिर में एक मालिन के साथ-साथ मैंने कीचक को घुसते हुए देखा था। परन्तु निकलते समय अकेली मालिन ही दिख पड़ी थी। यह सुनते ही इन्हें बड़ा भारी क्रोध आया। इन लोगों ने विचार किया—उस दुष्टा मालिन के पास चलना चाहिए और किसी तरह उसे शहर बाहर ले जाकर जला देना चाहिए। इसी विचार से वे लोग द्रौपदी को पकड़कर ले आये और चिता बनाकर उसमें द्रौपदी को जलाने लगे। इतने में किसी ने जाकर भीम से यह कह दिया

कि—देखो, मालिन को (द्रौपदी) कीचक के भाई जला रहे हैं। सुनते ही भीम दौड़ा और वहाँ जाकर उसने कीचक के भाईयों को देखा कि वे द्रौपदी के जलाने के लिये चिता तैयार कर रहे हैं। उसने सती द्रौपदी को तो चिता पर से उठा ली और उन सबको उठा-उठाकर अग्नि में होम दिये। उनमें से एक को जिह्वा काटकर छोड़ दिया। वह गूँगा होकर शहर में गया और विराट से कुछ संकेत करने लगा। विराट ने अपने कर्मचारियों से कहा—देखो तो, यह मूक मनुष्य क्या कहना चाहता है?

उत्तर में भीम बोला—जो कुछ यह कहता है, वह मैं आपको समझाये देता हूँ। इसका कहना है कि—महाराज, कीचक के दु:ख से उसके सब भाई अग्नि में जलकर भस्म हो गये। मैंने उन्हें बहुत रोका, परन्तु उन्होंने मेरी एक न सुनी। अब मैं क्या करूँ? मेरा कहना उन लोगों ने नहीं माना। विराट ने कहा—यह ठीक कहता है। निदान उस गूँगे को उसी दु:खदशा में अपने स्थान को लौट जाना पड़ा। उसकी कुछ सुनाई नहीं हुई। इस तरह पाण्डवों ने विराट नगरी में रहकर बारह वर्ष बिताये। इसके पीछे वे द्वारका गये और वहाँ जाकर वासुदेव से मिले। उनका दु:ख दूर हुआ। वहाँ श्रीकृष्ण की बहिन सुभद्रा का पाणिग्रहण अर्जुन से हो गया। श्रीकृष्ण ने यह चाहा कि, कौरव और पाण्डव फिर भी किसी तरह मिल जावें और इस आशय से उन्होंने उनका दूत तक बनना स्वीकार कर बहुत कुछ उद्योग किया, परन्तु पाण्डव और कौरव नहीं मिल सके। कौरव और पाण्डवों की शत्रुता संसार भर में फैल गयी। कुरुक्षेत्र में इन दोनों का बड़ा भारी भीषण युद्ध हुआ। उसमें कौरवों का सर्वनाश हुआ। जयलक्ष्मी ने पाण्डवों का दासत्व स्वीकार

किया। पाण्डवों की ओर श्रीकृष्ण सहायक थे। इन्होंने पाण्डवों को बड़ी भारी सहायता दी थी। कौरव और पाण्डवों का युद्ध भारतवर्ष में प्रसिद्ध युद्ध हुआ है। उस समय श्रीकृष्ण ने पाण्डवों को प्रीतिपूर्वक हस्तिनापुर का राज्य दिया और पाण्डव इच्छानुसार स्वतन्त्रता से राज्य करने लगे।

एक दिन नारद पाण्डवों के यहाँ आये। उन्हें आते हुए देखकर पाण्डव बहुत सन्तुष्ट हुए और उन्होंने उनका अर्घ जलादि से बहुत भक्तिपूर्वक सत्कार किया। नारद ने कुछ समय तक वहीं ठहरकर कुशल समाचार पूछे। इसके बाद वहाँ से उठकर वे द्रौपदी के महल की ओर गये। उस समय द्रौपदी स्नान करके निवृत्त हुई थी, सो दर्पण को आगे रखकर अपने वेष को सजा रही थी। वेष सजाने की आकुलता से द्रौपदी आये हुए नारद को न देख सकी। नारद को द्रौपदी की इस धृष्टता पर बड़ा ही क्रोध हुआ। वे उसी वक्त उसके महल से वापिस चले गये और कैलाश शैल पर पहुँचकर विचारने लगे—देखो, इस अभिमानिनी ने अपने सौन्दर्य के घमण्ड में आकर मेरा अनादर किया! अब मेरा भी कर्तव्य है कि—इस पापिनी को उसका मजा चखाऊँ। दिल में बदले का दृढ़ संकल्प कर नारद वहाँ से अमरकंका नगरी में पहुँचे। अमरकंका पद्मराज की राजधानी थी। वहाँ नारद ने सब लक्षणों से सुन्दर द्रौपदी का एक अत्यन्त सुन्दर चित्र खींचा और उसे ले जाकर पद्मराज के सामने रखा। चित्रपट देखते ही पद्मराज का चित्त मोहित हो गया। उन्हें उस चित्रसुन्दरी के अपूर्व लावण्य से बड़ा ही आश्चर्य हुआ, इसलिए नारद से पूछा—महाराज, कहिये तो यह सुन्दरता किसकी है? नारद ने उत्तर दिया—राजन्! यह सुन्दर चित्र अर्जुन की प्रेयसी

द्रौपदी का है, जो साधारण पुरुषों के लिये बड़ी ही दुर्लभ है। यह हस्तिनापुर में रहती है। इसे पुण्यवान पुरुष ही पा सकते हैं। इतना कहकर नारद वहाँ से चल दिये। इनके जाते ही पद्मराज को द्रौपदी की प्राप्ति की चिन्ता ने धर दबाया। जब इसे द्रौपदी के लाने का और कोई उपाय न सूझा, तब वह विद्या साधकर उसके द्वारा रात्रि के समय शयनागार में सोती हुई द्रौपदी को उठा लाया और अपने महल में रखकर अपने मनोरथ को सफल समझने लगा। पीछे उस पर अतिशय आसक्त होकर जब बलात्कार करने लगा, तब द्रौपदी ने बहुत दु:खी होकर प्रार्थना की कि तुम एक महीने तक और ठहर जाओ। मैं तब तक अपने पति की प्रतीक्षा करूँगी। यदि इस अवधि के भीतर कोई नहीं आवे, तो फिर जैसा तुम्हें रुचे वैसा करना। द्रौपदी के कहने माफिक पद्मराज ने अपना आग्रह एक महीने के लिये छोड़ दिया।

उधर जब अर्जुन जागे और शय्या द्रौपदी से शून्य देखी, तब उन्हें बहुत आश्चर्य और दु:ख हुआ। इतने में भीमसेनादि भी जाग उठे। यह आकस्मिक घटना देखकर उन्हें भी बहुत दु:ख हुआ। सभी ने द्वारका में जाकर यह हाल श्रीकृष्ण से कह सुनाया। श्रीकृष्ण भी इस घटना के सुनने से बहुत दु:खित हुए। इतने ही में वहीं पर नारद महाराज की सवारी आ पहुँची। उन्होंने सबको सचिन्त देखकर खेदित होने का कारण पूछा। सभी ने नारद से कहा—महाराज, द्रौपदी को कोई हरण कर ले गया है। उसका पता अभी तक नहीं चला। यह सुनकर नारद कहने लगे—मैंने तो द्रौपदी को धातकी द्वीप के अन्तर्गत अमरकंका नगरी में देखी थी। जाना जाता है, उसे वहाँ का राजा पद्मराज ले गया है। क्योंकि द्रौपदी

उसी के महल में है। यह तुम्हें मालूम ही होगा कि धातकी द्वीप को जाने के मार्ग में समुद्र पड़ता है। इतना कहकर नारद वहाँ से भी रवाना हो गये। द्रौपदी की चिन्ता से चिन्तित श्रीकृष्ण उसी समय सब सेना लेकर समुद्र के किनारे पर जा पहुँचे। उन्होंने सेना को तो वहीं छोड़ा और आप पाण्डवों को लेकर रथ के द्वारा समुद्र पार होकर थोड़े ही समय में अमरकंका जा पहुँचे। जाकर किसी के द्वारा पद्मराज को सूचना भेज दी, जिसको पाते ही पद्मराज सेना लेकर अपनी पुरी के बाहर आया। पाण्डवों के साथ इसकी मुठभेड़ हुई। भीषण युद्ध हुआ। पाण्डवों के पराक्रम को देखकर पद्मराज की सेना भाग गयी। उसी समय श्रीकृष्ण ने भी अपने बली होने का पिरचय देने के लिये पृथ्वी पर ताकत के साथ पैर की एक ठोकर मारी, जिससे पृथ्वी काँपने लगी। लोग भय से व्याकुल हो गये। पद्मराज बहुत डरा, सो उसी वक्त द्रौपदी के पास जाकर उसके पाँव पड़ा और दीनता के साथ प्रार्थना करने लगा कि— माता, मेरी रक्षा करो। तुम वास्तव में मेरी माता हो। उसके दीनता के वचन सुनकर द्रौपदी बोली—तुम बच तो सकोगे, परन्तु इसके लिये तुम्हें एक उपाय करना होगा। वह यह कि—तुम स्त्री का वेष लेकर मेरे साथ चलो। पद्मराज ने यह बात स्वीकार की। सो द्रौपदी और बहुत सी स्त्रियों के साथ उसे भी लेकर अपने स्वामी से मिलने गयी। द्रौपदी को आती हुई देखकर कृष्ण को बहुत सन्तोष हुआ। द्रौपदी ने पाँव पड़कर श्रीकृष्ण आदि का सत्कार किया और पद्मराज को श्रीकृष्ण के चरणों में पड़ाया। श्रीकृष्ण को उसके इस दीन स्त्री वेष पर दया आयी, इसलिए उन्होंने उसे क्षमा कर दिया।

इसके बाद पद्मराज ने इन सबको अपने नगर में ले जाकर खूब आदर सत्कार किया। और कहा—नाथ, आज मेरा बड़ा भारी सौभाग्य है, जो आप सरीखे महात्माओं के दर्शन से मेरी जीवनलीला सफल हुई। पद्मराज ने उस दिन आनन्दित होकर सारे शहर में उत्सव करवाया। द्रौपदी ने इतने दिन तक भोजन नहीं किया था, सो आज उसका भी सुखपूर्वक पारणा हुआ। उसकी प्रतिज्ञा पूर्ण हुई। श्रीकृष्ण वहाँ सात दिन तक ठहरे, बाद सब अपने-अपने स्थानों की ओर जाने के लिये रवाना हुए। मार्ग में समुद्र की तीर भूमि में आकर ठहरे। वहीं पर श्रीकृष्ण ने अपना पांचजनय (शंख) बजाया। उसके शब्द से लोगों में बड़ा भारी कोलाहल मच गया कि यह किसका शब्द है? वहाँ पर जिन भगवान की सभा में धातकी द्वीप के नारायण बैठे हुए थे। उन्हें भी शंखध्वनि के सुनने से बड़ा भारी आश्चर्य हुआ। जिन भगवान से उन्होंने पूछा—नाथ, यह शंख का शब्द किसका किया हुआ है? भगवान बोले—जम्बूद्वीप के भारतवर्ष के अन्तर्गत द्वारका नाम सुन्दर नगरी है। वहाँ श्रीकृष्ण नारायण राज्य करते हैं। उन्हीं के शंख की यह ध्वनि है। भगवान, श्रीकृष्ण यहाँ किसलिए आये हैं। और किसलिए उन्होंने यह शंख का शब्द किया है? भगवान बोले—तुम्हारे राजा पद्मराज ने अर्जुन की स्त्री का हरण किया था, इसलिए उसके लेने के लिये वे यहाँ आये हैं। यह सुनकर नारायण पद्मराज से बहुत असन्तुष्ट हुए। उन्होंने उसे राज्य से निकाल दिया। और जिन भगवान से प्रार्थना की कि—नाथ, मेरी बहुत इच्छा है कि मैं श्रीकृष्ण से जाकर मिलूँ। भगवान ने उन्हें रोका और कहा—तुम्हें मिलना उचित नहीं है। कारण—जिनेन्द्र, चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण और प्रतिनारायण

इन लोगों का परस्पर में सम्मिलन नहीं होता है। इनके मिलने पर भी कुछ विशेषता तो होती नहीं, फिर बिना हेतु लाभ क्या होगा? इसलिए हे राजन्, तुम्हें केवल उनकी परोक्ष भेंट करके ही सन्तोष कर लेना चाहिए। तुम्हें या तो उनकी ध्वजा के दर्शन हो सकते हैं या शंख का शब्द सुनाई पड़ सकता है। इसी को तुम्हें उनकी परोक्ष भेंट समझना चाहिए। जैसा भगवान ने कहा, उसी तरह नारायण ने किया। उधर श्रीकृष्ण ने भी जिन भगवान के वचनों का पालन किया। फिर कुछ देर वहाँ और ठहरकर वे समुद्र पार होने की तैयारी करने लगे और बाणासुर का स्मरण करके उसकी सहायता से शीघ्र ही पार होकर अपने द्वीप में आ पहुँचे। रथ से नीचे उतरकर पाँचों पाण्डव चलने लगे। पीछे से द्रौपदी को लेकर श्रीकृष्ण रथ पर बैठे हुए तब तक आये, तब तक पाण्डव आगे निकल गये। आगे चलकर पाण्डवों को गंगा मिली, सो उन सब लोगों ने नाव के द्वारा उससे पार होकर श्रीकृष्ण के साथ हँसी करने के लिये और उनकी बल की परीक्षा करने के लिये नाव को जल में डुबो दी। श्रीकृष्ण भी पीछे-पीछे आये और जब पाण्डवों को वहाँ न देखा, तब वे रथ से उतर पड़े और उसे द्रौपदीसहित बायें हाथ से थामकर दाहिने हाथ से नदी में तैरने लगे, सो थोड़ी ही दूर में पार हो गये। जब श्रीकृष्ण पार हो गये, तब पाण्डवों ने अपनी डूबी हुई नाव निकालकर दिखला दी और श्रीकृष्णचन्द्र की मुक्त कण्ठ से स्तुति करके कहा—आपकी भी अलौकिक शक्ति है, नहीं तो इतनी बड़ी विशाल गंगा को कैसे पार कर सकते थे? जब पाण्डव बार-बार प्रशंसा करने लगे, तब श्रीकृष्ण कुछ उद्वेग में आकर कहने लगे—तुम्हें मेरे साथ हँसी करते शर्म भी नहीं आती! क्या

तुमने मेरे बल को अभी ही देखा है? सुनो, मैंने पहले कंस को यमलोक पहुँचाया और उसी तरह शिशुपाल को भी। और जरासंध आदि जितने अच्छे-अच्छे शूरवीर राजा थे, उन्हें भी मैंने ही मारा है। क्या तुम ये बातें नहीं जानते हो, जो मेरे साथ हँसी करते हो। मैंने और भी कितने काम आश्चर्यजनक किये हैं—गायों की रक्षा के लिये गोवर्द्धन शैल उठाया, यमुना के भीतर घुसकर नागराज को वश किया, हाथों से कोटिशिला उठाई, विशाल समुद्र पार किया, और अपने प्रताप से पद्मराजा को वश करके उससे द्रौपदी का छुटकारा करवाया। इस छोटी सी नदीमात्र के तिरने से मेरी शक्ति क्या जानी जा सकती है? जो तुमने मेरे साथ छल किया और हँसी की। क्या तुम नहीं जानते कि, कहीं बेचारे निर्बल मृग के मारने से केसरी के प्रबल प्रताप का अनुमान हो सकता है? कृष्ण को पाण्डवों की हँसी बड़ी ही बुरी लगी। जो हँसी आनन्द के लिये की गई थी, वह रंज की कारण हो गयी। बुद्धिमानों को चाहिए कि ऐसी हँसी कभी न करें। इस हँसी से बहुत दिनों का गाढ़ प्रेम भी क्षणमात्र में नामशेष हो जाता है। तथा बड़े-बड़े लोगों को भी नीचा देखना पड़ता है। बस, अब तुम्हें जहाँ मेरी पृथ्वी है तथा राज्य है, वहाँ नहीं ठहरना चाहिए। यह मेरी आज्ञा है, इसे तुम्हें पालन करनी चाहिए। श्रीकृष्ण के वचन सुनते ही मानी पाण्डव इन्हें नमस्कार कर दक्षिणदिशा की ओर चल दिये। उधर जाकर इन लोगों ने दक्षिण मथुरा बसाई। सच है—पुण्य के माहात्म्य से लोगों को सभी जगह सुख होता है।

देखो, पाण्डवों ने जुआ के खेलने से कैसे-कैसे दारुण दुःख भोगे और उन्हें नाना देशों में दुःख भोगते हुए फिरना पड़ा। इससे

तो यही कहना पड़ेगा कि—जुआ खेलने के समान संसार में कोई पाप नहीं तथा कोई प्रचण्ड शत्रु नहीं। पाण्डवों के दु:ख का कारण यही हुआ न? नहीं तो पाण्डव कितने पुण्यशाली थे।

श्रेणिक, देखो! पाण्डव सरीखे प्रबल प्रतापी लोगों ने भी जुआ के खेलने से कैसी-कैसी भयंकर आपदायें सहीं? और भी नल प्रभृति कितने ही राजाओं को इस जुआ के खेलने से जो दु:ख उठाने पड़े हैं, उन्हें कोई कह सकता है? इसी से लोग हिंसा करने लग जाते हैं, झूठ बोलने लगते हैं, और चोरी करने लगते हैं। मनुष्यों के लिये जुआ एक बड़ा भारी दु:ख ही है। बुद्धिमानों को इस पापव्यसन का परित्याग करना चाहिए। क्योंकि इसी से नरकवास भोगना पड़ता है और इसी से तिर्यंच गति में भी अनेक भीषण-भीषण दु:ख देखने पड़ते हैं। दु:ख तो बहुत और हमारी जिह्वा एक ही, फिर उसके द्वारा जुआ के सब दु:खों का वर्णन कैसे हो सकता है? सार यही है कि यह संसार के बढ़ाने का प्रधान हेतु है। इसलिए सुखी होने की इच्छा रखनेवालों को चाहिए कि, इस बुरे व्यसन से अपना पिण्ड छुड़ावें।

देखो, पाण्डव लोग कितने पुण्यशाली और नीतिशास्त्र के अनुभवी थे, परन्तु उन्हें जो जुआ के खेलने की आदत पड़ गयी, उसके द्वारा उन लोगों ने कैसी-कैसी कठिन आपदायें भोगीं? और देश का सर्वनाश किया। इसलिए हमारा यही उपदेश है कि, इसे नरक निवास का कारण समझकर नियम से छोड़ो और यदि वास्तविक सुख चाहते हो, तो साथ ही जैनधर्म को स्वीकार करो। यह तुम्हारे सुखसमुद्र के बढ़ाने के लिये चन्द्रमा होगा।

छप्पय।

सकलपापसंकेत, आपदाहेत कुलच्छन।
कलहखेत दारिद्र देत, दीसत निज [१]अच्छन।।
गुनसमेत जस सेत, केत[२] रवि रोकत जैसैं।
[३]औगुन-निकर-निकेत, लेत लखि बुधजन ऐसैं।।
जूआ समान इहलोक मैं, आन अनीति न पेखिये।
इस विसनराय के खेल को, कौतुक हू नहिं देखिये।।

(भूधर शतक)

इति प्रथम: परिच्छेद:

१. नेत्रों से। २. जैसे सूर्य ग्रह को राहू का विमान रोक देता है।
३. अवगुण समूह का घर।

दूसरी माँस व्यसन कथा

श्रेणिक महाराज ने गौतम गणधर से पूछा – नाथ, माँस के खाने से किसने कैसे–कैसे दु:ख भोगे हैं, सो भी कहिये। तब गणधर भगवान बोले – श्रेणिक, सुनो–जिसने मांस के खाने से दु:ख भोगे हैं, उसी का उपाख्यान कहा जाता है। माँस के खानेवालों में एक बक नाम का राजकुमार अधिक प्रसिद्ध है। उसने संसार के बढ़ानेवाले बहुत दु:ख देखे हैं। श्रेणिक ने कहा – महाराज, यह बक कौन था? किसका पुत्र था? इसे माँस खाने की रुचि कैसे हुई? और इसने कौन–कौन दु:ख भोगे? गणधर भगवान बोले –तुम्हारा पूछना बहुत ठीक है। उसके उपाख्यान से लोगों को बहुत कुछ शिक्षा मिलेगी, इसलिए मैं उसे संक्षेप में कहता हूँ।

इस – भारतवर्ष में मनोहर नामक देश के अन्तर्गत एक कुशाग्र नाम का सुन्दर शहर था। उसमें भूपाल नाम का राजा अपनी विदुषी महाराणी लक्ष्मीमती सहित राज्य करता था। लक्ष्मीमती सब गुणों से विभूषित थी। राजा तो जिनधर्म का परम भक्त था, परन्तु इसका पुत्र बक माँस खाने में बड़ा ही लोलुपी था। जब प्रतिवर्ष अष्टाह्निका पर्व आता था, तब महाराज अपने सारे शहर में बड़ा ही महोत्सव करवाते थे और यह घोषणा फिरवा देते थे कि, मेरे शहर में कोई भी पुरुष जीवहिंसा न करने पावे। यदि कोई करेगा, तो वह राजद्रोही समझा जावेगा। उस वक्त बक ने पिता से प्रार्थना की कि पिताजी, मुझे माँस की आदत पड़ गयी है। मैं बिना माँस के कैसे रह सकूँगा? तब उन्होंने पुत्र का अधिक आग्रह देखा, तब वे बोले – यह काम सर्वथा बुरा है। परन्तु तुम यदि नहीं रह सकते, तो देखो, एक जीव के सिवाय अधिक की हिंसा मत करना। पुत्र अपने पिताजी के

वचनों को स्वीकार कर अपने नियमानुसार रहने लगा। अर्थात् प्रतिदिन एक जीव के घात से अपनी जीभ को शान्त करने लगा। और बाकी के सब लोगों ने राजाज्ञा के अनुसार सर्वथा हिंसा करना छोड़ दिया।

अष्टाह्निका पर्व में एक दिन रसोइये ने बक के लिये जो भोजन बनाया था, उसमें माँस भी पकाया था। रसोइया भोजन को वहीं पर रखकर कुछ काम के लिये बाहर चला गया। इतने में किसी बिल्ली ने आकर माँस खा लिया। जब रसोइया आया और देखा कि, बिल्ली माँस खा गयी है, तब उसे बड़ी चिन्ता हुई। अब क्या करूँ? किधर जाऊँ? माँस के बदले में उसे और क्या उत्तम वस्तु खिलाऊँगा? राजपुत्र माँस का बड़ा ही प्रेमी है। वह यह हाल देखकर नियम से मुझे दण्ड देगा। ऐसा विचारकर रसोइया शहर के बाहर गया और वहाँ किसी मरे हुए बच्चे को पृथ्वी में गढ़ा हुआ देख उखाड़ लाया और माँस-लोलुपी राजकुमार के लिये उसने उसे ही पकाकर रख दिया। राजकुमार जब भोजन के लिये आया, तब रसोइये ने उसकी बहुत भक्ति की। जब राजपुत्र भोजन के लिये बैठ गया, तब रसोइये ने पहले तो नाना प्रकार के व्यंजन परोसे और पीछे वह माँस भी परोस दिया। आज के माँस का स्वाद उसे बहुत अच्छा लगा, इसलिए उसने रसोइये से पूछा - ठीक-ठीक बता कि यह माँस किसका है? मैंने तो आज तक कभी ऐसा माँस नहीं खाया था। रसोइये ने कहा - कुमार, यह माँस मयूर का है। राजपुत्र ने फिर कहा - क्या मैंने कभी मयूर का माँस नहीं खाया? जो तू ऐसा कहता है। मयूर के माँस में और इस माँस में तो बहुत फर्क है। मैंने तो न कभी ऐसा स्वादिष्ट माँस देखा था और न कभी सुना था? मैं तुझे क्षमा करता हूँ। ठीक-ठीक कह दे, कि यह स्वादिष्ट माँस किसका है? रसोइया

बोला – कुमार, मैंने ठीक हाल भय से नहीं कहा था। किन्तु जब तुम क्षमा कर चुके हो, तो लो मैं कहता हूँ – यह माँस मनुष्य का है। सुनकर कुमार बोला – देख, आज से मेरे सन्तोषार्थ जैसे हो सके, वैसे मनुष्य का ही माँस लाकर बनाया कर। इसके लिये जितना द्रव्य चाहिए, उतना मैं दिया करूँगा। रसोइये ने सुनकर विचारा कि मैं रोज–रोज मनुष्य माँस कैसे ला सकूँगा? उसने और कोई उपाय न देखकर बहुत से चने, लड्डू, सिंघाड़े, छुहारे तथा नारियल खरीदे और उन्हें लेकर वह सायंकाल के समय कुछ अन्धेरा हो जाने पर जहाँ–जहाँ छोटे–छोटे बच्चे खेला करते थे, वहाँ जाने लगा और उक्त चीजें बालकों को देने लगा। बेचारे बच्चे लोभ के मारे उसके पास आने लगे। सच है, सब मोहों में स्वाद का मोह बड़ा ही जबरदस्त है। इस तरह जब बालक रसोइये से हिल गये, तब वह उनमें से किसी एक को अवसर पाकर पकड़ लेता और गला दबाकर तथा वस्त्र में छुपाकर घर ले आता, और राजकुमार को उसके माँस से प्रसन्न करता। ऐसा करते–करते बहुत काल बीत गया। इतने में ही भूपाल जिनदीक्षा से दीक्षित होकर तपोवन चले गये और राज्याधिकार बक को मिल गया। वह स्वच्छन्द होकर राज्य करने लगा।

इसी तरह समय बहुत बीत गया। बालक दिनोंदिन घटने लगे। लोगों को बड़ा ही भय हुआ। सबने मिलकर विचारा कि यह बात क्या है? इस विषय का पता लगाने के लिये कि बच्चे कहाँ जाते हैं, बहुत से लोग गुप्तरीति से शोध लगाने लगे। एक दिन दुष्ट रसोइया बालकों को कुछ खाने को देकर ज्यों ही उनमें से एक को पकड़कर ले जाने लगा, त्यों ही लोगों ने दौड़कर उसका गला पकड़ लिया। पकड़ते ही रसोइये ने अधमरे बच्चे को नीचे डाल

दिया। बालक को देखते ही लोगों का क्रोध उमड़ आया। उन्होंने उस वक्त उसकी बुरी तरह पत्थर और घूसों से खबर ली। जब उस पर अच्छी मार पड़ी और पूछा गया, तब उसने ठीक-ठीक जो बात थी, वह कह दी। लोगों को राजा की अनीति देखकर बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने विचार किया कि अब हमें क्या कर्तव्य है? यह पापी राजा तो प्रतिदिन हमारे बाल-बच्चों को खाता है और जब इसको लत पड़ गयी है, तब यह बच्चों के माँस को छोड़ेगा भी नहीं। इससे तो यही उचित है कि हम लोगों को अब एक दिन भी यहाँ नहीं रहना चाहिए। अरे! वह राजा भला ही क्या कर सकेगा, जो हमारी ही सन्तानों का खानेवाला है? और जब बाल-बच्चे ही न रहेंगे, तब हमारा जीवन ही किस काम का है? देखो, लोग केवल बालकों ही के लिये तो देश-विदेश तक जाने में आगा-पीछा नहीं करते हैं? बालक ही तो घर के भूषण कहे जाते हैं। फिर जहाँ बालकों का ही नाश होता है, वहाँ हम रहकर क्या करेंगे? धन, धान्य आदि जितनी वस्तुएँ संगृहीत की जाती हैं, वे सब बच्चों के ही लिये की जाती हैं। ऐसी अवस्था में भी हम लोग यहीं रहेंगे, तो नियम से हमारा सर्वनाश होगा। वह राजा ही किस काम का है, जो बच्चों के साथ इस तरह निर्दय व्यवहार करता है? अन्त में सब लोगों ने विचार कर यह निश्चय किया कि यह राजा बड़ा ही दुष्ट और पापी है, सो इसे ही देश से निकलवा देना चाहिए। हम लोग ऐसे नृशंस राजा को कैसे रख सकते हैं? और क्यों कर उसकी सेवा कर सकते हैं? विचार करते-करते प्रातःकाल हो आया। उजाला होते ही सब महाजन लोग मिलकर राजदरबार में गये। राजा राज्यसिंहासन पर बैठा हुआ था। उसे सब लोगों ने मिलकर सिंहासन से उतार दिया और उसके किसी गोत्रीय पुरुष को राज्य

सिंहासन पर बैठा दिया। सच है—बहुतों की सम्मति सभी को स्वीकार करनी पड़ती है। वही राजा है और वही देव है जिसे बड़े लोग मानते हैं और जब बड़े लोग ही रुष्ट हो जाते हैं, तो समझो कि उसका दैव भी उससे परांमुख है। जो नीतिपूर्वक चलनेवाले हैं, उनके लिये सब ही सज्जन हैं और जो अनीति करते हैं, उनके लिये भला भी बुरा हो जाता है। इसलिए बुद्धिमानों को कभी अच्छे मार्ग का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। क्योंकि खोटे रास्ते से चलनेवालों को स्वप्न में भी सुख नहीं मिल सकता है।

बक राज्यभ्रष्ट होकर दु:ख से दिन बिताने लगा, तो भी उसकी पापवासना न बुझी। देखो, जो पाप के उदय से पहले ही से मनुष्य माँस खानेवाला है, वह अब ऐसे कठिन व्यसन से अपना पीछा कैसे छुड़ा सकेगा? ठीक यही हालत बक की हुई। वह शहर के बाहिर वन में रहकर श्मशानभूमि में घूमने लगा और मुर्दों का माँस खा-खाकर दिन बिताने लगा। लोगों ने इसका शहर में आना बन्द कर दिया। और इसी के भय से लोगों ने शहर के बाहर निकलना तक छोड़ दिया। लोग इसे राक्षस, दैत्य, और पिशाच समझने लगे। कुछ दिनों बाद यह नंगा होकर वन में रहने लगा और मनुष्यों के माँस से उदरपूर्ति करने लगा। सच है—जो लोग पाप में रक्तचित्त होते हैं, उन्हें दया तथा ग्लानि कहाँ? बक लोगों से घृणा किया हुआ पृथ्वी में इच्छानुसार घूमने लगा। इसी तरह इसे ग्रामों में घूमते-घूमते बहुत दिन बीत गये। यह यहाँ तक क्रूर हो गया कि जो जीव इसके सामने आ जाता, यह उसे जीता न छोड़ता था। ठीक तो है, खोटे मार्ग में जानेवालों को शंका तथा विचार कहाँ रहता है?

एक दिन वन में घूमते हुए इसे वसुदेव ने देखा। यद्यपि वसुदेव

थे अकेले, तो भी वे निर्भय होकर इससे लड़े और उन्होंने इसे जल्दी से मार गिराया। बक मरकर सातवें नरक गया, जहाँ अत्यन्त दारुण दु:ख सहने पड़ते हैं। वहाँ इसने पाप के फल से बड़े-बड़े भीषण दु:ख भोगे। यद्यपि दु:ख नरकमात्र में भोगने पड़ते हैं, परन्तु सातवें नरक में जैसे दु:ख हैं, वैसे कहीं नहीं हैं। वास्तव में यह पाप का फल है, जो वहाँ कभी सुख का लेश नहीं मिलता। नारकी जब यह कहता है कि—मैं प्यास की पीड़ा से मरा जाता हूँ, तब असुर लोग उसी के शरीर से खून निकाल-निकालकर पिलाने लगते हैं। फिर वह कहता है, नहीं, नहीं मुझे प्यास नहीं है तो भी वे लोग इसका पीछा नहीं छोड़ते हैं। और कहते हैं—अरे पापी! दुराचारी!! तूने तो दूसरों का माँस बहुत खाया है, अब अपने ही शरीर के माँस को क्यों नहीं खाता? नरक में जीव की बड़ी ही दुर्दशा की जाती है। वह अग्नि में पकाया जाता है, घानी में तिल की तरह पेल दिया जाता है, आग में जला दिया जाता है। जब तक उसकी आयु पूरी नहीं होती, तब तक ऐसी-ऐसी ही अगणित दारुण यातनायें उसे निरन्तर भोगनी पड़ती हैं।

बुद्धिमानो! देखा न? माँस के खाने का फल जिसे बक राजपुत्र ने भोगा है। अब तो तुम्हें उचित है कि तुम अभी माँस का खाना छोड़ दो। आप जानते हैं—माँस न तो वृक्षों से पैदा होता है, न पृथ्वी में उगता है, और न पर्वतमालाओं से उत्पन्न होता है। किन्तु नियम से निरापराध जीवों के मारने से इसकी पैदायश है। इसलिए उच्छिष्ट तथा मूत्र विष्टा आदि से मिले हुए माँस से चित्त को हटाना चाहिए। देखो! माँस बकरे, शूकर, हिरण, मछली आदि के शरीर के घात होने से पैदा होता है। इसकी दुर्गन्धि मात्र से जब उल्टी हो जाती है, तब उत्तम लोग उसे कैसे ग्रहण करेंगे? इसका

तो स्पर्श तक भी महा बुरा है। इसलिए बुद्धिमानो! माँस के त्याग का नियम करो। माँस का खाना यहाँ भी घृणा पैदा करता है और परलोक में भी नरक में ले जाने का कारण है।

देखो! कहाँ तो बक का उत्तम राज्य कुल और कहाँ मनुष्यों के माँस का खाना? इसी से उसे राज्य से पतित होना पड़ा और अन्त में नरक निवास करना पड़ा। इसी तरह और भी जो कोई माँस का भक्षण करेगा, उसके लिये बक का चरित्र खासा उदाहरण है। माँस के दोषों को कोई कहाँ तक गिना सकता है, जिसका नाम मात्र लेने से उत्तम पुरुष भोजन तक छोड़ देते हैं।

सारांश यह कि—माँस निन्द्य है, पाप का कारण है, पवित्रता का सर्वनाश करनेवाला है, दु:ख का मूल है और दोनों लोक में बुराई का हेतु है इसलिए इसके परिहारपूर्वक बुद्धिमानों को–अहिंसा धर्म का अपूर्व प्रतिपादन करनेवाला जिनधर्म स्वीकार करना श्रेय है। यही संसार दु:ख से दु:खित जीवों के लिये सुख का कारण है।

छप्पय।

जंगम जी को नाश होय, तब माँस कहावै।
सपरस आकृति नाम, गन्ध उर घिन उपजावै।।
नरकजोग निरदई, खाहिं नर नीच अधरमी।
नाम लेत तज देत, अशन उत्तम कुल करमी।।
यह अशुचि मूल सबतैं बुरो, कृमिकुल रास निवास नित।
आमिष अभक्ष याको सदा, बरजौ दोष दयाल चित।।

(भूधर शतक)

इति द्वितीय परिच्छेद:

तीसरी मदिराव्यसन कथा

भगवान गणधर बोले—श्रेणिक! अब तुम्हें मदिरा पीनेवालों का उपाख्यान सुनाया जाता है, यह भी लोगों के लिये सुख का हेतु है। मदिरा पीने से यादवों ने अतिशय दु:ख भोगे हैं। तुम्हें उनका चरित्र ध्यानपूर्वक सुनना चाहिए। श्रेणिक ने कहा—नाथ! आप कहें, मैं सुनने को तैयार हूँ।

गौतम भगवान यों कहने लगे—जम्बूद्वीप-भारतवर्ष-कौशलदेश के अन्तर्गत सौरपुर नामक सुन्दर नगर था। वहाँ महाराजा समुद्रविजय राज्य करते थे। समुद्रविजय यादवों में प्रधान गिने जाते थे। इनके छोटे भाई का नाम था वसुदेव। वसुदेव पृथ्वी में प्रसिद्ध थे।

जिस समय मथुरा का राजा कंस वसुदेव के साथ अपनी बहिन देवकी का ब्याह करके उन्हें अपनी राजधानी में लिवा ले गया था और सुखपूर्वक राज्य करता था, उस समय एक दिन अतिमुक्तक नाम के मुनि जो कि कंस के छोटे भाई थे आहार के लिये आये। उन्हें आते हुए देखकर कंस की जीवंयशा नामक प्रधान रानी उनकी हँसी करने लगी और देवकी का मलिन वस्त्र दिखाकर बोली—जिसे तुमने बालावस्था से ही छोड़ रखी है, उसी का यह वस्त्र है। वस्त्र देखकर मुनि क्रोधित होकर कहने लगे—मूर्खे! तू हँसती क्यों है? तुझे तो रोना चाहिए। देख! इसी के गर्भ से जो बालक पैदा होगा, उसके द्वारा तेरे पिता और स्वामी की मृत्यु होगी। इतना कहकर मुनि अन्तराय हो जाने के कारण वापिस लौट गये। इधर मुनि के कहने से जीवंयशा को बहुत दु:ख हुआ। इतने में कंस भोजन के लिये आया और प्राणप्यारी को रोती हुई देखकर बोला—सुन्दरी! आज किसलिए रो रही हो? कहो

तो क्या किसी ने तुम्हें कुछ दु:ख पहुँचाया है? जीवंयशा बोली—नाथ, और तो कुछ नहीं किन्तु यही एक प्रबल दु:ख का कारण है कि—आज आहार के लिये अतिमुक्तक मुनि आये थे, सो मैंने उन्हें देवकी का वस्त्र दिखला दिया। उसे देखकर मुनि ने क्रोध में आकर मुझसे कहा कि—मूर्खे! तुझे तो शोक करना चाहिए हँसती क्यों है? क्योंकि—इसी के गर्भ से पैदा होनेवाले के द्वारा तेरे पति और पिता की मृत्यु होगी। बस, यही मेरे दु:खिनी होने का कारण है। कान्ता की दु:ख कहानी सुनकर कंस भी चिन्ता से व्याकुल हुआ। सच है—सब भयों से मृत्यु का भय बड़ा होता है। कुछ विचारकर कंस वसुदेव के घर पर गया। वसुदेव ने उसका सत्कार किया। कंस पहिले तो कपटभाव से इधर-उधर की बातें करने लगा, पीछे अवसर पाकर वसुदेव से बोला—आप सब विद्याओं में मेरे गुरु हैं। इसमें किसी तरह का सन्देह नहीं किन्तु मुझे आपसे कुछ माँगना है। यदि आप कृपा करें तो बहुत अच्छा हो। वसुदेव बोले—ऐसा तुम क्यों कहते हो? क्या कभी मैंने तुम्हारे कहने का निरादर किया है? मैंने आज तक कभी तुम्हारा कहना नहीं फेरा, फिर किसलिए इतना आग्रह करते हो? कंस बोला यदि ऐसा है तो मुझे वचन दे दीजिए मैं प्रार्थना करूँ। जब वसुदेव वचन दे चुके, तब कंस बोला आगे मेरी बहिन की प्रसूति मेरे घर पर ही हुआ करे, यह आज्ञा दीजिए। उत्तर में वसुदेव ने कहा—अस्तु, यह तुम्हारी बहिन है, इसकी प्रसूति तुम्हारे घर पर होने में कोई हर्ज नहीं। कंस भी यह कहकर कि अच्छी बात है, घर चला गया और अपने जीवन को कृतार्थ मानने लगा। उस वक्त वसुदेव के किसी हितू ने कंस के इतने आग्रह का कारण उन्हें बता दिया। सुनकर वसुदेव और देवकी बहुत दु:खी हुए। वसुदेव उसी वक्त रथ में बैठकर देवकी के

साथ वन में गये और मुनिराज को नमस्कार कर उनके समीप बैठ गये मुनिराज के द्वारा धर्म का उपदेश सुना। इसके बाद—उन्होंने हाथ जोड़कर अपने चित्त के दु:खी होने का कारण कहा—विभो! आपने जीवंयशा के सामने जो-जो बातें कहीं थीं, वे मुझे भी सुना दी जाएँ, तो बहुत दया हो। क्योंकि आपका कहना कभी झूठ नहीं होता।

मुनिराज बोले—राजन्! तुम्हारी भार्या के तीन पुत्र-युगल उत्पन्न होंगे और जब-तब वे उत्पन्न होंगे, तब-तब कौशाम्बी नगरी में वृषभदत्त सेठ की स्त्री के भी (जो इनकी पूर्व जन्म की माता है) तीन पुत्र युगल उत्पन्न होंगे परन्तु वे मरे हुए होंगे। सो देवता इन पुत्रों का तत्काल ही स्थान परिवर्तन कर दिया करेंगे अर्थात् तुम्हारी भार्या के युगलों को तो वृषभदत्त के यहाँ रख आवेंगे और मरे हुए युगलों को तुम्हारी भार्या के समीप लाकर रख जावेंगे। कारण तुम्हारे जो पुत्र होंगे, वे नियम से चरम-शरीरी (उसी भव से मोक्ष जानेवाले) होंगे। इसलिए तुम कुछ भी दु:ख मत करो। और जो चौथी बार गर्भ होगा, उससे शत्रु कुल का नाश करनेवाला सातवाँ जनार्दन (श्रीकृष्ण) होगा। निश्चय समझो कि, उसी के द्वारा जरासिन्ध और कंस का सर्वनाश होगा। वह प्रबल प्रतापी तीन खण्ड का स्वामी होगा। वसुदेव मुनिराज के वचनों से बहुत सन्तुष्ट हुए। और मुनिराज को नमस्कार करके देवकी के साथ-साथ अपने घर लौट आये। यहीं से कंस और वसुदेव अपने-अपने चित्त में अनबन रखने लगे, परन्तु बाहिर इस तरह रहने लगे जैसे ऊपर से सुन्दर बेर हो। कुछ काल बीतने पर देवकी गर्भवती हुई। जब गर्भ सात महीने का हो चुका, तब उसे कंस, आकर अपने घर लिवा ले आया। पूर्ण दिन हो जाने पर जब देवकी

प्रसवोन्मुखी हुई, तब कंस ने बड़ी ही सावधानी से उसकी रक्षा की। प्रसूति के दिन इधर तो देवकी के दो सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुए, उधर देव उन्हें ले जाकर वृषभदत्त के यहाँ रख आये और उसके उसी समय उत्पन्न हुए दो मृत पुत्रों को देवकी के पास लाकर रख गये। जब कंस को भी खबर लगी कि देवकी के पुत्र हुए हैं, तब वह शीघ्र ही आया और बड़ी ही निर्दयता से उन मरे हुए बालकों को भी उसने पाँव पकड़कर पछाड़ दिये। कंस की यह निर्दयता देखकर देवकी और वसुदेव बड़े ही दु:खी हुए। देवकी कुछ दिन तक और भी कंस के यहाँ ठहरी, बाद अपने घर पर आ गयी। आगे निर्दयी कंस ने दूसरे और तीसरे युगलों की भी यही हालत की। यह बड़ा ही अच्छा हुआ, जो देवता उनका पहले ही से स्थान परिवर्तन कर देते थे। यद्यपि देवकी के पुत्र चिरंजीव थे तो भी उसे उनके वियोग का बड़ा ही दु:ख होता था। पर क्या करे, विवश थी। कंस से छुपाने के लिये उसे ऐसा करना पड़ता था। अस्तु, वसुदेव ने भी अपने वचनों के पालन करने में किसी तरह की आनाकानी न की।

कुछ समय बीत जाने पर एक दिन देवकी सुखपूर्वक सोती हुई थी कि उसे रात्रि के अन्तिम प्रहर में केसरी, गजराज, चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, समुद्र, कमल और भवनवासी देवों का स्थान ये आठ बातें स्वप्न में दीख पड़ीं। उन्हें देखकर वह जाग उठी और प्रात:काल होते ही अपने स्वामी के पास गयी और वहाँ उनसे उसने रात्रि में देखे हुए स्वप्न का सब हाल ज्यों का त्यों कह सुनाया। सुनकर वसुदेव ने उसका फल यों कहा देवी, आज ही रात्रि में तेरे गर्भ में–शत्रुकुल के नाश करनेवाले नवमें वासुदेव का अवतार हुआ है। वह पिता का दु:ख दूर करनेवाला होगा। इस फल के सुनने से देवकी को बहुत ही हर्ष हुआ, परन्तु साथ ही उसे चिन्ता भी बड़ी

भारी हो गयी। उसने स्वामी से कहा—नाथ! आपने यह नहीं कहा कि यह पुत्र जी कैसे सकेगा? उत्तर में वसुदेव ने यह कहकर उसके चित्त का सन्तोष कर दिया कि—इस बालक की भी देव रक्षा करेंगे, तुझे दु:खिनी न होनी चाहिए। क्योंकि यह पुत्र बड़ा ही भाग्यशाली होगा। गर्भ धीरे-धीरे बढ़ने लगा। देवकी ने दोहद में सिंहासन पर बैठकर अपना मुख खंग में देखा। यह गर्भ पाँच ही महीने का हुआ था कि—कंस आकर देवकी को अपने घर लिवा ले गया और प्रतिदिन बड़ी ही सावधानी से उसकी रक्षा करने लगा। भादों महीने के कृष्णपक्ष की आठें को जबकि मूसलधार पानी बरस रहा था, और रोहिणी नक्षत्र का योग था, देवकी ने सातवें महीने में शुभ लक्षणों से युक्त सुन्दर पुत्ररत्न प्रसव किया। उस समय देवकी ने बड़ी ही होशियारी कर गुप्तरीति से अपनी अनुचरी को वसुदेव के पास भेजी। उसने जाकर वसुदेव से कहा—महाराज, आज आपके पुत्ररत्न हुआ है, किसी तरह उसकी रक्षा करनी चाहिए। यह सुनते ही वसुदेव प्रसूतिगृह में गये और बड़ी ही सावधानी से पुत्र को लेकर छिपे हुए निकल गये। उनके साथ में रक्षा के लिये बलभद्र भी थे। ये दोनों गलियों में इस ढंग से गये कि इनके पाँवों की आहट तक भी किसी ने न सुनी। कुछ दूरी पर दरवाजा लगा हुआ मिला, परन्तु पुत्र के पाँव लगने से उस वक्त वह भी खुल गया। आगे बालक के नाक में जलबिन्दु के चले जाने से उसे छींक आ गयी और उसे वहीं पर कारागृह में पड़े हुए उग्रसेन ने सुन ली। सुनते ही बच्चे को उन्होंने शुभाशीर्वाद दिया कि—चिरंजीव! वसुदेव सुनकर झट से उग्रसेन के पास पहुँचे और उन्होंने प्रार्थना की कि—महाराज, यह हाल छुपा रहना चाहिए। आप किसी से भी न कहें। उग्रसेन ने वसुदेव से बहुत प्रेम के साथ में कहा—तुम इसकी चिन्ता

न करो। इस सुन्दर बालक को गुप्तरीति से जल्दी ले जाओ, जहाँ इसकी ठीक-ठीक सुरक्षा हो सके। कारण इसी के द्वारा मैं बन्धन से छूट सकूँगा। वसुदेव बच्चे को लेकर बाहिर निकले, उस वक्त जल बरस रहा था, सो उससे बचने के लिये बलभद्र ने ऊपर से छत्री तान दी। इस तरह वसुदेव बलभद्र के साथ बच्चे को लिये हुए नदी के किनारे पर पहुँचे देखा कि—यमुना किनारों को तोड़ती वेग के साथ बह रही है, उसका पूर आ रहा है। परन्तु ज्यों ही इन्होंने नदी में पैर दिये, त्यों ही उस प्रतापी पुत्र के पुण्य प्रभाव से यमुना का जल घुटनों हो गया और तब ये कुश्लतापूर्वक दूसरी पार वृन्दावन जा पहुँचे जहाँ नन्द नाम का ग्वाला रहता था। उसकी स्त्री का नाम यशोदा था। नन्द ने इन्हें आते हुए देखकर विचार कि—आज किसलिए ये पूज्य महात्मा मेरे घर पर आये हैं? और समीप आने पर पूछा कि, आप किसलिए पधारे हैं? वसुदेव ने अपनी दु:खभरी जितनी कहानी थी, सब कह सुनाई। देखो! कंस ने मेरे छह पुत्र पहले मार डाले हैं, यह सातवाँ पुत्र है। मैं बड़े भारी पुण्य से इसे यहाँ तक ला पाया हूँ। सो अब जिस तरह हो सके, तुम इस बच्चे की पालना करना। परन्तु ध्यान रहे, इस बात को कंस न जान ले। नहीं तो करे कराये पर सब पानी फिर जायेगा? नन्द ने कहा—नाथ, मुझे कहना यह है कि आज ही मेरे यहाँ पुत्री उत्पन्न हुई है। सो उसे तो आप ले जाकर देवकी को दे दीजिए और इस बालक को मेरे घर छोड़ जाइये। इसे कंस किसी तरह जान न सकेगा, आप निश्चिन्त रहें। कंस पुत्री को देखकर किसी तरह का विघ्न भी नहीं करेगा। और यदि करेगा, तो उससे हमारी क्या हानि है? आप यह न विचारें कि मेरी पुत्री की नाहक जान जायेगी। यदि यह पुत्र चिरंजीव रहेगा, तो मैं समझूँगा, मेरे बहुत सी पुत्रियाँ हैं।

नन्द की सहृदयता देखकर वसुदेव को बड़ी प्रसन्नता हुई। वे अपने बच्चे को उसे सौंपकर तथा उसकी पुत्री को आप लेकर शीघ्र ही लौट आये और उस कन्या को देवकी के पास लिटाकर अपने घर चले आये। पुत्र की चिन्ता का भार निकल जाने से इस दिन उन्हें खूब निद्रा आई। उधर स्त्रियाँ जगीं और पुत्री हुई जानकर स्वामी के पास जाकर बोलीं कि नाथ, देवकी के अबकी बार सुन्दर कन्या हुई है। यह सुनते ही कंस को बड़ा क्रोध आया। वह उसी वक्त प्रसूतिघर में गया और जाकर देखता है तो वास्तव में पुत्री हुई है। उस वक्त उसने विचार किया कि—इसी कन्या के द्वारा मेरी जीवनयात्रा पूरी होगी अथवा इसके पति के द्वारा? यदि इसका पति मेरा घातक होगा, तो मैं ऐसा उपाय क्यों न करूँ जिससे इसे कोई चाहे ही नहीं। यही विचारकर पापी कंस ने बेचारी कनया की नाक काट ली और इसके पश्चात् कन्या देवकी को सौंपकर वह अपने स्थान पर चला गया। प्रसूति का समय बीत जाने पर देवकी भी अपने घर चली आयी। इधर बालक तो दिनोंदिन गोकुल में बढ़ने लगा और उधर कंस के घर में सुख की इतिश्री के कारण तथा कुल के भावी विनाश सूचक उत्पात होने लगे। उनसे घबराकर कंस ने नैमित्तिक लोगों से पूछा—मेरे घर में ये उत्पात क्यों होते हैं? ज्योतिषी बोले—वन में कोई तुम्हारा शत्रु बढ़ रहा है। उसके द्वारा तुम्हारी जीवनलीला पूरी होगी। यही कारण उत्पात होने का है। ज्योतिषी लोगों के वचनों को सुनकर कंस को बड़ी ही चिन्ता हुई। उसने अपनी रक्षा का और कोई उपाय न देखकर पूर्व जन्म के मित्र देवों का आराधन करना आरम्भ किया। जब वे प्रत्यक्ष हुए, तब उनमें से एक को आज्ञा दी कि तुम किसी तरह मेरे शत्रु को मारो। आज्ञानुसार वह पूतना का वेष

धारण कर नन्द के यहाँ आया और अपने स्तनों पर विष लगाकर बालक को दूध पिलाने लगा। बच्चे ने उसकी बुरी वासना जान ली, सो दूध पीने के छल से उसने उसके स्तनों को काट लिया। कपटवेषी पूतना चिल्लाकर आकाश की ओर भागी। दूसरे दिन अन्य देव उदूखल, शाल्मली और शंकर आदि कितने ही वेष धारण करके आये, किन्तु भाग्यशाली बालक का कुछ भी नहीं बिगाड़ सके।

एक दिन कंस श्रीकृष्ण को देखने के लिये व्यग्रचित्त होकर भय से डरता-डरता स्वयं वन में आया। कंस को आता हुआ देखकर यशोदा ने बड़ी बुद्धिमानी से श्रीकृष्ण को गायें चराने के छल से वन में भेज दिया। जब कंस ने आकर देखा कि श्रीकृष्ण वहाँ नहीं है, तब उसने अपनी विद्या से पूछा कि, श्रीकृष्ण इस वक्त कहाँ है। उत्तर में विद्या ने कहा कि वन में है। कंस ने वहाँ अपना जाना असम्भव समझकर देवताओं को भेजा और कह दिया कि देखते ही उसे मार डालना। आज्ञा पाते ही दैत्य दौड़े गये और आकाश से पत्थरों की भीषण वर्षा करने लगे। इससे गायों को और ग्वालों को बड़ा ही कष्ट पहुँचा। वे अपनी रक्षा के लिये इधर-उधर भागने लगे। कृष्ण ने जब यह हाल देखा, तो उन्होंने सारे गोवर्धन पर्वत को बायें हाथ से उठा लिया। श्रीकृष्ण के द्वारा पर्वत का उठाया जाना देखकर दैत्य भागे और कंस के पास जाकर कृष्ण की सब लीला सुनाने लगे। सुनते ही कंस डरा और जल्दी से अपने महलों में चला गया। उपद्रव शान्त हुए जानकर श्रीकृष्ण भी स्वच्छन्द होकर क्रीड़ा करने लगे।

श्रीकृष्ण के पढ़ाने का भार बलभद्र के ऊपर था। वे ही प्रतिदिन

उन्हें पढ़ाया करते थे। कृष्ण के बल की बात जब बलभद्र अपने कुटुम्बियों को सुनाते थे, तब उसे सुनकर उन्हें बड़ा ही हर्ष होता था। देवकी जब पुत्र की प्रशंसा सुनती तो उसे भी उसके देखने की बड़ी ही उत्कण्ठा होती। वह बलभद्र को सदा कहा करती थी कि कभी मुझे भी श्रीकृष्ण के दर्शन कराना। एक दिन बलदेव देवकी को अष्टमी का प्रोषध करवाकर पूजा के बहाने गोकुल में लिवा ले गये। वहाँ जिन भगवान की पूजा करके देवकी ने गोकुल की शोभा बड़े ही सुन्दर रूप में देखी। कहीं गाय के बछड़ों की क्रीड़ा, कहीं गायों का रंभाना, कहीं बांसुरी बजाते हुए ग्वालों का नृत्य, कहीं मेघ सरीखी ध्वनि करता हुआ दही विलोने का शब्द, कहीं गोपियों का नवनीत को गरम करना, कहीं गायों के दूध निकालने के समय का धाराशब्द, कहीं दूध के आकण्ठ भरे हुए बहुत से कलश, कहीं रास्ते में खड़े हुए गाय के बछड़ों का शब्द और कहीं बैलों का दँहकना इसी तरह गोकुल की शोभा देखकर देवकी बहुत ही प्रसन्न हुई। और साथ ही हृदय में खेद भी करने लगी कि मुझसे तो ये गोपियाँ ही बहुत भाग्यवती हैं जो पुत्र पौत्र का आनन्द देखकर खुशी के साथ दिन बिताती हैं।

यशोदा, देवकी को आयी हुई देखकर बहुत खुशी हुई और भक्तिपूर्वक उसके चरणों को नमस्कार कर उसके बैठने के लिये आसन लायी और दोनों हाथ जोड़कर बोली देवी, आज तेरे आने से मेरा सारा गोकुल पावन हुआ। मैं आज सनाथ हुई तू मेरी माता है और आज से तू मुझे अपनी दासी समझ। यह सुनकर देवकी विनयवती यशोदा से बोली—यशोदा मैंने सुना है कि, तुझे बड़े प्रतापी पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई है। सो क्या तू मुझे अपने पुत्र के दर्शन करावैगी? यशोदा जल्दी से जाकर पुत्र को ले आई और उसे देवकी

के सामने बैठा दिया। उस समय पुत्र की शोभा बड़ी ही सुन्दर थी —उसका ग्वालों का सा वेष, सिर पर मयूरपिच्छ और मुकुट, बंशी का बजाना और सिन्दूरमय शरीर मन को मुग्ध किये देता था। उस वक्त श्रीकृष्ण के साथ बहुत से ग्वाल बाल भी थे। कृष्ण आते ही देवकी के चरणों को नमस्कार कर उसके सामने बैठ गया। देवकी पुत्र को गोद में बैठाकर उसके मुख की शोभा को अतृप्त होकर बार-बार देखने लगी।

इसके पश्चात् वह यशोदा से बोली—यशोदा, तू बड़ी ही सौभाग्यवती है, जो तेरे यहाँ ऐसा पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि, तू इस पुत्र के पुण्य से बहुत ही सुख भोगेगी। यह कहते-कहते पुत्रप्रेम से देवकी के स्तनों से दूध झरने लगा और उसी दूध से उसकी सारी कंचुकी भींग गयी। बलभद्र को देवकी के स्तनों से दूध झरता हुआ देखने से बड़ा ही आश्चर्य हुआ। वह यह सोचकर कि, इसकी यह हालत कोई दुष्ट कंस से जाकर न कह दे, जल्दी दूध का भरा हुआ घड़ा उठा लाया और उससे उसने देवकी को स्नान करा दिया। यशोदा बोली—माता, गोकुल में तेरे योग्य ऐसी कोई उत्तम वस्तु नहीं है जिससे तेरा सत्कार करती, इसलिए दूध ही से तुझे स्नान कराना पड़ा है। इसके बाद बलभद्रजी देवकी को रथ में बैठाकर अपने घर पर चले गये। देवकी ने जाते वक्त पुत्र को आशीर्वाद दिया कि—प्यारे! गायों का पालन करते रहना, तू हमारा भी गोपाल है। नन्दनन्दन, प्रतिदिन तेरी वृद्धि हो और तेरे माता-पिता सदा सुखी रहें। इतना कहकर देवकी अपने घर चली आयी। सच है, अपने जाये पुत्र के मुख का दर्शन किसे आनन्दित नहीं करता?

कृष्ण गोकुल में रहकर सुखपूर्वक खेलकूद में दिन बिताने लगा। बलभद्र उसे प्रतिदिन सुन्दर-सुन्दर भूषण वस्त्रादि से भूषित किया करते थे। श्रीकृष्ण था तो बालक ही? सो गोपियों के साथ खूब ही लीला किया करता था। कभी उनके वस्त्र खींच लेता था, और कभी उनका दूध दही ढोल दिया करता था। उधर विचारे कंस को सुख नहीं। उसके लिये रात्रि में निद्रा लेना तक मुश्किल हो गया। भूख-प्यास जाती रही। वह बड़े ही संकट में पड़ा। परन्तु शत्रु का पता उसे तब भी नहीं लगा। निदान उसने दूसरा उपाय सोचकर सब ग्वालों को बुलवाया और उन्हें आज्ञा दी कि—तुम लोग जाकर यमुना सरोवर के कमल ले आओ। उन ग्वालों में श्रीकृष्ण भी था, सो वह झूठ से बोल उठा कि—महाराज, कमल तो मंगवाये गये परन्तु यह नहीं कहा कि—यमुना सरोवर किस देश में है। कंस क्रोध में आकर बोला—तुझे इससे मतलब? जो कार्य दिया गया है, उसे पूरा कर। उसके कहने को स्वीकार कर श्रीकृष्ण वहाँ से चला। उसके साथ-साथ बलभद्र तथा दूसरे ग्वालबाल भी गये और यमुना सरोवर के किनारे पर बैठकर उसके जल की शोभा देखने लगे। इतने में श्रीकृष्णचन्द्र वृक्ष के ऊपर चढ़कर तालाब में कूद पड़ा और पाताल में पहुँचकर सर्पराज के पास जाकर उसने कमल के लिये प्रार्थना की थोड़ी देर में वह कमल लेकर बाहर आ गया। उधर जब यशोदा ने सुना कि—पुत्र यमुना के तालाब के कमल लेने को गया है, तब दुःखी होकर अपने पुत्र के साथ-साथ पानी में गिरने को जल्दी दौड़ी आयी। परन्तु तालाब की भयंकरता देखकर मारे डरके वैसी ही किनारे पर खड़ी रह गयी। सच है—मृत्यु का भय सबसे बड़ा भय है। श्रीकृष्ण के सकुशल बाहर निकल आने पर ग्वालों को बहुत ही खुशी हुई।

खुशी के मारे वे बांसुरी बजाकर नाचने लगे। श्रीकृष्ण बलभद्र और ग्वालों के साथ वापिस मथुरा आया। उसे देखकर लोगों ने उसकी बहुत कुछ प्रशंसा की। श्रीकृष्ण राजसभा में पहुँचा। कमल कंस के सामने रख दिये और उसे नमस्कार किया। कमलों को देखते ही कंस मानसिक व्यथा से बहुत दु:खी हुआ। फिर भी उसने कुछ विचारकर ग्वालों से कहा—तुम जानते हो, मेरे यहाँ एक नागशैय्या है। जो उसके ऊपर शयन करेगा, उसे वह शैय्या दे दी जायेगी, जो पुरुष मेरे सारंग धनुष पर डोरी चढ़ा देगा उसे वह धनुष पारितोषिक में दे दिया जावेगा, और जो मेरे पांचजन्य शंख को बजावेगा, उसे वह शंख भी दे दिया जावेगा। कंस का कहना था कि श्रीकृष्णचन्द्र लोगों के देखते-देखते जाकर शैय्या पर सो गया, धनुष चढ़ा दिया और पांचजन्य शंख भी उसने पूर दिया। कृष्ण ने उस समय सब लोगों को अपनी विलक्षण शक्ति का परिचय दिया। सब लोगों ने हृदय से उसकी स्तुति की। वीर श्रीकृष्ण को देखते ही कंस का मुख मण्डल कुम्हला गया। उस वक्त बलदेव ने बड़ी होशियारी से श्रीकृष्ण को भय दिखाकर कहा—क्यों रे मूर्ख, सब गायों को छोड़कर बैठे-बैठे तुझे यहाँ कितना समय बीत गया। इन सब अपने साथी ग्वालों को लेकर वृन्दावन को क्यों नहीं जाता? सुनते ही श्रीकृष्ण उठा और शैय्या धनुष तथा शंख लेकर वन की ओर चला गया। कंस को इन बातों से बड़ा ही दु:ख पहुँचा। फिर उसने एक और उपाय श्रीकृष्ण के मारने के लिये विचारा। वह यह कि उसके यहाँ दो पहलवान थे। उनके नाम थे, चाणूर और मुष्टिक। उन्हें बुलवाकर कंस ने एकान्त में पूछा—क्या तुम लोग कुछ करके बता सकोगे? उत्तर में पहलवानों ने कुछ हंसकर कहा—महाराज, हम लोग क्या कर सकते हैं यह बात तब जानी जा सकेगी

जब कि एक बार शत्रु की और हमारी मुठभेड़ करा दोगे। पहले कुछ कहना व्यर्थ है। उनके कहने से कंस को बड़ा ही सन्तोष हुआ। उसने उसी दिन से पहलवानों के लड़ने के लिये अखाड़े का काम आरम्भ करवा दिया। और ग्वालों को बुलवाकर उनसे कहा कि तुम लोगों को भी किसी दिन लड़ने के लिये मेरे यहाँ अखाड़े में आना चाहिए। यहाँ पहलवानों की कुश्तियाँ होंगी। बलभद्र ने यह सब हाल जाकर श्रीकृष्ण से कह दिया। वसुदेव ने सौर्यपुर में अपना दूत भेजा और यादवों को बुलवाया। समाचार सुनते ही यादव आ पहुँचे। जब कंस ने यह सुना कि सब यादव मिलकर आ रहे हैं, तब उसे बड़ी भारी कठिन समस्या में फँसना पड़ा। कंस ने विचारा कि अब वैसे काम न चलेगा। सो उसने सामने जाकर उन लोगों को बड़ा ही आदर-सत्कार किया तथा वसुदेव को किसी तरह समझाकर वह अपने घर लिवा ले गया। यादवगण मिलकर विचार करने लगे कि देखो—इस दुष्ट ने तो श्रीकृष्ण के मारने के लिये बड़ी ही दुष्टता फैला रखी है, अब यदि यह कुछ दुष्टता करे, तो इसे नियम से मार देना चाहिए। यह निश्चयकर यादव शान्तिता से रहने लगे।

एक दिन प्रात:काल बलदेव वृन्दावन गये और जाकर यशोदा से बोले—यशोदा, जल्दी स्नान तथा भोजन की तैयारी कर क्योंकि हमें मल्लयुद्ध के लिये बहुत शीघ्रता से मथुरा जाना है। युद्ध का नाम सुनते ही यशोदा एकदम ठण्डी हो गयी। उसे शिथिल देखकर बलदेव ने रुष्ट होकर कहा—क्यों तुझे भी घमण्ड आ गया जो मेरे कहने को टाल रही है! बलदेव के डपटने से यशोदा के नेत्रों में आँसुओं की धारा बह निकली। माता को रोती हुई देखकर श्रीकृष्ण को बहुत दु:ख हुआ। बलदेव कृष्ण की यह हालत देखकर लिवा

ले गये और बोले—तुम्हारे मुख के मलिन होने का क्या कारण है? ठीक-ठीक कहो। उत्तर में श्रीकृष्ण ने कहा—आपने क्रोध में आकर मेरी माता को जब गाली तक दे डाली, तब मुझे दु:ख क्यों न हो?

बलदेव, श्रीकृष्ण का आलिंगन कर बोले—भाई, यशोदा तुम्हारी सच्ची माता नहीं है, सच्ची माता देवकी है। पापी कंस ने पहले तुम्हारे छह भाईयों को मार डाला था और तुम्हें भी मारना चाहता था। इसलिए जन्मसमय तुम्हारा स्थान परिवर्तन कर दिया गया था। और बदले में यशोदा की पुत्री को ले जाकर तुम्हारी माता को दे दी थी। तुम्हें मैं यशोदा के घर पहुँचा गया था। यशोदा ने पुत्र की इच्छा से दूध पिलाकर तुम्हें बढ़ाया है। कंस ने जो-जो अन्याय किये हैं, उन्हें तुम क्या नहीं जानते? आज भी वैसी ही दुष्टता उसने विचारी है। वास्तव में यह मल्लशाला तुम्हारे ही मारने के लिये बनवाई गई है। यह नहीं मालूम होता कि—आज क्या होता है? तथा हमारी क्या हालत होगी? बलभद्र के कहने को सुनकर और अपने वास्तविक माता-पिता का हाल जानकर श्रीकृष्ण को बहुत आनन्द हुआ। उन्होंने कहा—यशोदा मेरी वास्तविक माता नहीं है, तो क्या हुआ? जब वे मुझे पालती हैं, तो उनको पूज्य समझना ही चाहिए। इसके पीछे नदी में स्नान कर दोनों घर गये। श्रीकृष्ण ने माता को नमस्कार कर भोजन की याचना की। यशोदा दोनों के लिये आसन लायी और उसने उनसे बैठने के लिये कहा। दोनों सहर्ष बैठे और भोजन के लिये हाथ धोये। यशोदा ने उत्तम-उत्तम भोजन परोसा। भोजन से निवृत्त होकर वे दोनों भाई युद्ध के लिये सुसज्जित हुए और माता को नमस्कार कर ग्वालों के साथ-साथ मथुरा की ओर रवाना हुए। रास्ते में

बन्दीजन उनका यशोगान करते हुए उन्हें उत्तेजित करते जाते थे। जब कंस ने सुना कि श्रीकृष्ण आ रहे हैं, तब उसे बड़ा ही भय हुआ। उसने और कुछ उपाय न देखकर बन्दीजनों के द्वारा बहुत से अपशकुन करवाये और दैत्यों के द्वारा उपद्रव करवाये, तो भी श्रीकृष्ण और बलदेव वापिस न लौटे। जब ये बलवान वीर मथुरा में आ पहुँचे, तब लोगों ने देखकर जान लिया कि, अब कंस की कुशल नहीं है। ये लोग उसी वक्त यादवों के साथ मल्लशाला में गये जहाँ कंस बैठा हुआ था। पहुँचते ही श्रीकृष्ण लड़ने के लिये तैयार होकर जा बैठा। कंस ने डरते-डरते चाणूर और मुष्टिक को लड़ने के लिये श्रीकृष्ण के पास भेजा। चाणूर और श्रीकृष्ण की बहुत देर तक लड़ाई होती रही, परन्तु चाणूर कृष्ण का कुछ न कर सका। यह देख कंस ने मुष्टिक को भी लड़ने के लिये कहा। मुष्टिक उठा ही था कि बलदेव ने उसे बायें हाथ से रोक दिया। और अपनी मुष्टि मुष्टिक के सिर पर मारनी चाही, इतने में कंस बोल उठा — तुम भी अकेले इसके साथ क्यों नहीं लड़ते? कंस का तो कहना था कि बलदेव ने मुष्टिक को जमीन पर दे मारा। उधर श्रीकृष्ण ने भी चाणूर को छाती से दबाकर यम के घर पहुँचा दिया। जब कंस ने देखा कि इन लोगों ने ऐसे दुर्जय पहलवानों को भी मार दिया, तब उसे बड़ा ही क्रोध आया। वह स्वयं खंग लेकर उठा और लाल-लाल आँखें कर श्रीकृष्ण से बोला कि — क्यों रे दुष्ट, तूने मेरे वीर पहलवान क्यों मारे? वे तो बेचारे केवल लीला से लड़ रहे थे। यदि तेरी दुष्टता उन्हें मालूम हो जाती, तो वे तुझे इसका मजा पहले ही से चखा देते। अस्तु। मैं ही इस दुराचार का बदला चुकाकर तुझे यममन्दिर पहुँचा देता हूँ। कंस यह कहकर उठा और खंग हाथ में उठाकर श्रीकृष्ण के मारने के लिये सन्मुख आया। उसे

अपने सामने आता हुआ देखकर श्रीकृष्ण ने और कुछ न पाकर हाथी को बाँधने के खम्भे को उखाड़ा और सामने आगे बढ़कर कहा—रे दुष्ट, क्या नहीं जानता कि तूने मेरे छह भाईयों को मारा है। देख, मैं उन सबका बदला एक ही बार में चुकाता हूँ। यह कहकर श्रीकृष्ण कंस पर टूट पड़े। इतने में यादव भी युद्ध के लिये उठ खड़े हुए। भीषण युद्ध हुआ। बहुत से लोग मारे गये। अन्त में श्रीकृष्ण ने कंस को खम्भे से इस तरह मारा कि, वह गतप्राण होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। कंस के मरते ही उसकी सेना भी जिधर जगह मिली उधर भागी और सब जगह श्रीकृष्णचन्द की आज्ञा का विस्तार हुआ। कंस का अग्नि संस्कार कर सब यादव घर पर आ गये और निष्कण्टक होकर उन्होंने देवकी के यहीं भोजन किया।

उधर जब जीवंयशा ने स्वामी की मृत्यु का हाल सुना, तब उसे बहुत ही दु:ख हुआ। वह उसी वक्त राजगृह में गयी और अपने पिता जरासंध के सामने अपनी चूड़ियाँ फोड़कर तथा स्वामी के मरण का हाल कहकर रोने लगी। जरासंघ उसकी यह दशा देखकर बोला—पुत्री, क्यों रोती है? देव का लेख मिट नहीं सकता। तू चिन्ता मतकर तेरे स्वामी को मारकर वह भी बहुत काल न जी सकेगा। देखूं, अब वह कहाँ जाकर रहता है? तू महल के भीतर जा और अब इस विषम दु:ख से बचने का उपाय कर। उस पापी को तो मैं अभी यमपुर पहुँचाये देता हूँ। पुत्री को महल के भीतर भेजकर जरासंध ने यादवों पर स्वयं युद्ध की तैयारी की। जरासंध को जाता हुआ देखकर उसके भाई ने प्रार्थना की कि—नाथ, आप कहाँ जाते हैं। उत्तर में जरासंध बोला—आजकल यादव बड़े ही मदोन्मत्त हो रहे हैं। उन्हीं का मुझे सर्वनाश करना है। सुनकर अपराजित ने बड़े भाई से प्रार्थना की कि—भाई, बेचारे यादव

दीन हैं, उन पर आप क्रोध क्यों करते हैं। यदि आप इनका मारना ही उत्तम समझते हैं, तो आप ठहरें, मैं जाकर इनका नामशेष किये देता हूँ। यह कहकर अपराजित बड़ी भारी सेना के साथ निकला और जल्दी से मथुरा जा पहुँचा। उस वक्त सब यादव भी वहीं थे। सो अपराजित का आना सुनकर वे भी रणभूमि में आ पहुँचे। कृष्ण और अपराजित का भीषण युद्ध हुआ। अन्त में श्रीकृष्णचन्द्र ने खंग के द्वारा अपराजित को भी यमपुर पहुँचाया। अपराजित के मरते ही उसकी सारी सेना चारों दिशाओं में भाग गयी। यादव लोग निष्कण्टक होकर उनमें से कितने मथुरा में ही ठहरे और कितने सौरीपुर को चले गये।

श्रेणिक ने भगवान गौतम गणधर से कहा—नाथ, मुझे कुछ पूछना है। वह यह कि श्रीनेमिनाथ के चरित्र सुनने की मेरी इच्छा है। श्रेणिक के पूछने पर गौतम भगवान नेमिनाथ का चरित्र यों कहने लगे—यादवों के स्वामी समुद्रविजय नामक राजा थे। उनकी प्रधान महारानी का नाम था शिवादेवी। एक दिन शिवादेवी अपने शयनागार में सुखपूर्वक सोई हुई थीं कि उसे जिनेन्द्र के अवतार के सूचक गजराज, वृषभ, केसरी, दो कलशों से स्नान करती हुई लक्ष्मी, दो पुष्पमालाएँ, अखण्ड चन्द्रबिम्ब, उदय होता हुआ सूर्य, मीनयुगल, दो कलश, कमलों से शोभित सरोवर, गम्भीर समुद्र, सुन्दर सिंहासन, छोटी-छोटी घण्टियों से सुशोभित विमान, धरणेन्द्र का भवन, प्रदीप्त रत्नसमूह निर्धूमअग्नि आदि वस्तुएँ स्वप्न में दीख पड़ीं। इसके बाद उसने अपने मुख में प्रवेश करते हुए हाथी को देखा। स्वप्न देखकर देवी जग गयी। प्रात:काल हुआ शौच-स्नानादि से निपटकर वह सखियों के साथ राजसभा में गयी। महाराज ने महारानी को अपने पास बायीं ओर बैठाकर कहा—

देवी, आज क्या विचार करके आयी हो? महारानी बोली—नाथ, रात्रि के अन्तिम समय में मैंने कई स्वप्न देखे हैं। उनका फल आपसे पूछने के लिये आयी हूँ। यह कहकर उसने सब स्वप्न ज्यों के त्यों कह सुनाये जो रात्रि में देखे थे। महाराज स्वप्न सुनकर उनका फल कहने लगे कि—देवी! तुम्हारे गर्भ में तीर्थंकर अवतार लेंगे। जिनकी आज्ञा का सन्मान देवता तक करते हैं। उनके अवतार के छह महीने पहले ही से प्रतिदिन देवता अपने घर पर रत्नवर्षा करेंगे और दिक्कुमारियाँ तुम्हारी सेवा के लिये उत्कण्ठित हो रही होंगी। शिवादेवी भगवान की उत्पत्ति अपने पति से सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुईं और फिर सखियों के साथ महलों में चली गयीं।

कुछ दिनों बाद उस देवताओं के द्वारा पूज्य गर्भ की दिनों दिन वृद्धि होने लगी। उसके भार से शिवादेवी को किसी तरह की तकलीफ न हुई, जैसे प्रतिबिम्ब के पड़ने से दर्पण की किसी तरह हानि नहीं होती है। गर्भ पूर्ण दिनों का हुआ। श्रावणमास शुक्लपक्ष में छठ के दिन शुभमुहूर्त शुभदिन में चित्रानक्षत्र का योग होने पर सौभाग्यवती शिवादेवी ने त्रिभुवनमहनीय पुत्र प्रसव किया। पुत्र के उत्पन्न होते ही नगर भर में आनन्दोत्सव होने लगा, देवों के आसन चलायमान हुए, और सुन्दर-सुन्दर बाजों का मनोहर शब्द होने लगा। सौधर्मेन्द्र अवधिज्ञान से यह जानकर कि इस समय भारतवर्ष में तीर्थराज का अवतार हुआ है; उसी वक्त ऐरावत हाथी के ऊपर चढ़कर देवताओं और अपनी इन्द्राणी के साथ वहाँ से रवाना हुआ। दुन्दुभि, घण्टा आदि बाजों का इतना शब्द हुआ कि दिशायें गूँज उठीं। शब्द का सुनना तक कठिन पड़ गया। थोड़े में यों कह लीजिये कि बड़े भारी महोत्सव के साथ महेन्द्र सौरीपुर में आया और उसने सभक्ति वहीं पर पंचाश्चर्य की वर्षा की।

इन्द्र ने बहुत बड़े ऐश्वर्य से शहर को सुसज्जित किया। और पश्चात् अपनी प्रिया को भगवान के लाने के लिये राजमहल में भेजी। इन्द्राणी स्वामी के कहे अनुसार प्रसूतिगृह में गयी और वहाँ अपनी दिव्यशक्ति से ठीक वैसा ही एक सुन्दर बालक रखकर नेमिनाथ को उठा लाई। लाकर उसने भगवान को इन्द्र के हाथ में रख दिये। इन्द्र उन्हें ऐरावत हाथी पर बैठाकर बड़े समारोह के साथ-साथ सुमेरु पर्वत पर ले गया। वहाँ से पाण्डुक वन में ले जाकर उसने भगवान को पाण्डुक शिला पर विराजमान किये और अभिषेक क्रिया का आरम्भ किया। सब देवता लोग रत्न तथा सुवर्ण के बने हुए एक हजार आठ कलश अपने हाथ में लेकर क्षीरसमुद्र पर गये। उन्होंने समुद्र से लेकर पर्वतपर्यन्त कलशों की ऐसी सुन्दर श्रेणी बाँध दी जो मन को मुग्ध किये देती थी। बाद, इन्द्र अपनी इन्द्राणी सहित भगवान का अभिषेक करने लगा। इस समय सुमेरु पर्वत अभिषेक के जल से ऐसा मालूम होता था मानों वह चाँदी का बना हुआ हो। जब भगवान का क्षीराभिषेक हो चुका, तब दूसरे जल से अभिषेक कर शची ने जिनराज का शरीर पौंछा और सुगन्धित चन्दनादि का उनके शरीर में विलेपन कर अनेक तरह के सुन्दर फूलों से उनकी पूजा की। पश्चात इन्द्र भगवान को सोलहों भूषणों से भूषित कर और उनके अंगूठे में अमृत रखकर स्तुति करने लगा—

हे नाथ! हे जिनाधीश! हे विश्वपितामह! हे देवदेव! हे जगन्नाथ! हे परमेश्वर! आप संसार में सदाकाल सर्वोत्कृष्ट रहें। आप जगत के स्वामी हैं, सबके नमस्कार करने के योग्य हैं, संसार में आपसे बढ़कर और कोई पूज्य नहीं हैं, आप जगत के देखने और जाननेवाले हैं, स्वयंभू हैं, विज्ञान की मूर्ति हैं, अजर हैं, अमर हैं, और कर्मों

के जीतनेवाले हैं। आपको मैं भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ। नाथ! आप भक्तजनों के रक्षक हैं, दरिद्रता के नाश करनेवाले हैं, दु:ख दारिद्रता के मिटानेवाले हैं, आप ही कामधेनु (मनोवांछित के देनेवाले) हैं, ज्ञान की शरीरिणी प्रतिमा हैं, अनन्त बल के धारक हैं, मूर्तिमान तेज हैं, निरोग हैं, आप में ही अनन्त शक्तियाँ हैं, आप किसी से क्षोभ को प्राप्त होनेवाले नहीं हैं, वीतराग हैं, इच्छारहित हैं, कामरूप सर्प के नष्ट करने को गरुड हैं, कर्मरूप वन के भस्म करने को वह्नि हैं, इच्छित के देने को चिन्तामणि हैं, आश्रयी जीवों के रक्षक हैं, सज्जनों के पालक हैं, पंचेन्द्रियों के जीतनेवाले हैं तथा आपत्तियों के विनष्ट करनेवाले हैं। इस प्रकार बहुत देर तक भगवान की सप्रेम स्तुति करके इन्द्र ने भगवान का नाम अरिष्ट नेमि रखा। और पीछे वह उन्हें ऐरावत हाथी पर बैठाकर सौरीपुर वापिस ले आया। वहाँ आकर उसने माता के पास रख आने के लिये अपनी प्रिया से कह दिया। वह उन्हें उसी अवस्था में माता के पास रखकर चली आई। जब शिवादेवी की निद्रा खुली, तो देखती है कि—पुत्र सोलहों भूषणों से भूषित है। उसे बड़ा ही आश्चर्य हुआ। इसके पश्चात् इन्द्र भगवान के माता-पिता की पूजन कर अपने स्थान पर चला गया। इन्द्र के चले जाने पर यादवों ने भी बहुत कुछ भगवान का जन्म महोत्सव किया। भगवान दिनों दिन देवकुमारों के साथ-साथ क्रीड़ा करते हुए बढ़ने लगे। उनके लिये कुबेर प्रतिदिन वस्त्रा-भूषण भेजा करता था।

उधर जब जरासन्ध ने सुना कि, छोटा भाई यादवों के द्वारा मारा गया है, तब उसे बड़ा क्रोध आया। वह उसी समय बड़ी भारी सेना लेकर यादवों से युद्ध करने के लिये चल पड़ा। यादव यह सुनकर कि जरासंध चढ़कर आ रहा है, बहुत घबराये और सब मिलकर विचारने

लगे कि—जरासंध से लड़ाई करके हमारा यहाँ रहना उचित नहीं जान पड़ता। अत: कहीं दूसरी जगह भाग चलना चाहिए, जहाँ यह हमारा हाल कुछ भी न जान सके। इस प्रकार निश्चय करके सब यादव जाने के लिये तैयार हुए। उनके पीछे-पीछे नगर के भी लोग चले। जरासंध ने यह देखकर कि सारा शहर ऊजड़ पड़ा हुआ है समझ लिया कि, यादव भाग गये इसलिए उसने उनका पीछा किया। आगे-आगे अनेक प्रकार के वाहनों पर चढ़े हुए यादव जा रहे थे, और उनके पीछे-पीछे जरासंध। चलते-चलते उन्हें एक सुबेल नामक पर्वत मिला। वे सब जल्दी से उस पर चढ़ गये। इतने में जरासंध भी पर्वत की तलहटी में आ पहुँचा। जब यादवों ने देखा कि जरासंध शीघ्रता से पर्वत पर भी चढ़ा आ रहा है, तब वे उसके पहुँचने के पहले ही उतरकर आगे को चल दिये। जरासंध पर्वत पर पहुँचा। उसे आशा थी कि यादव पर्वत पर मिल जावेंगे। परन्तु वहाँ उसे उनके स्थान में कहीं चतुरंग सेना, कहीं प्रज्वलित चिता, कहीं हाथियों के समूह, कहीं घोड़े, कहीं हजारों स्त्रियाँ, और कहीं सैकड़ों मुर्दे जलते हुए दीख पड़े। थोड़े में यों कहना चाहिए कि उस समय देवों की माया से वह स्थान खासा काल का घर बन रहा था। वहीं पर जरासंध को एक वृद्ध स्त्री रोती हुई दीख पड़ी। उसने वृद्धा से पूछा—तू कौन है? क्यों रोती है? और यह भयंकर काण्ड क्या हो रहा है? क्या यह किसी के डर के मारे किसी ने किया है और यदि किया है, तो क्यों? सुनकर वृद्धा ने कहा—सुनिये, जो कुछ हाल है, उसे मैं ज्यों का त्यों सुनाये देती हूँ—

जरासंध नाम का पृथ्वी में प्रसिद्ध एक राजा है। उसी के भय के मारे यादवों ने यह भीषण काण्ड रचा है अर्थात् वे सब यहाँ जलकर भस्म हो गये हैं। मैं कुल परम्परा से उनके घर की दासी हूँ, परन्तु

मुझे अपना जीवन प्यारा होने से मैं उनके साथ नहीं जली। उन्हीं के इस असह्य दु:ख से दु:खिनी होकर यहाँ बैठी-बैठी रो रही हूँ। वृद्धा के वचन सुनकर जरासंध को बहुत ही खुशी हुई। वह कहने लगा कि क्या यादवों को मेरा इतना भय है? जो बेचारों के लिये कहीं स्थान तक का ठिकाना नहीं रहा। आखिर वह यह समझकर कि—सब यादव जल मरे हैं, अब मैं आगे जाकर ही क्या करूँगा? लौटकर घर पर चला आया और नि:शंक होकर राज्य करने लगा। जब यादवों ने सुना कि जरासंध वापस घर की ओर लौट गया, तब वे भी धीरे-धीरे चलकर समुद्र के पास आ पहुँचे और नानाप्रकार के फल फूलों से सुशोभित उसके किनारे को देखकर उन्होंने वहीं पर रहने का निश्चयकर आगे चलना बन्द कर दिया।

एक दिन श्रीकृष्ण ने दर्भासन पर बैठकर दो उपवास किये और सागरासुर से प्रार्थना की कि, आज मैं तुम्हारा अतिथि हुआ हूँ। अत: मेरे रहने को तुम्हें किसी स्थान की तजबीज करनी उचित है। उपवास के प्रभाव से सागरासुर ने स्वयं आकर और हाथ जोड़कर श्रीकृष्ण से प्रार्थना की कि—नाथ! कहिये मुझे क्या आज्ञा देते हैं? श्रीकृष्ण बोले—मैंने कहा न कि में तुम्हारा पाहुना हुआ हूँ, सो तुम मेरे रहने को स्थान दो। और मुझे अपना भाई ही समझो। सागरासुर बोला—नाथ! जब तक आप संसार में जीवित रहेंगे, तब तक मैंने आपके रहने को स्थान समर्पित किया। श्रीकृष्ण ने यह कहकर कि अच्छी बात है, समुद्र को बारह योजन आगे हटाकर वहाँ का स्थान अपने अधिकार में कर लिया। श्रीकृष्ण की इस अपूर्व शक्ति से और भगवान के वहाँ आने से इन्द्र का भी आसन चलायमान हुआ। उसने भगवान का और श्रीकृष्ण का वहाँ आना समझकर भगवान की भक्ति से कुबेर को आज्ञा देकर भेजा।

कुबेर ने भगवान की भक्ति से आनन्दित होकर एक बहुत सुन्दर नगरी श्रीकृष्ण के रहने को निर्माण की। उसके चारों ओर मनोहर कोट बनाया गया था। उसमें बड़े-बड़े ऊँचे महल बनाये गये थे और महलों की भित्तियाँ सुवर्ण की बनायी गयी थीं। चारों ओर नीचे उतरने और ऊपर चढ़ने की सुन्दर सीढ़ियाँ अपूर्व शोभा देती थीं। सड़कें बड़ी ही कुशलता से बनायी गयी थीं। सुन्दर जिनमन्दिर मन को मुग्ध किये देते थे। भाव यह कि उसकी सुन्दरता में किसी तरह की त्रुटि नहीं की गयी थी। उसका नाम द्वारका रखा गया था। जब सब तरह द्वारका सज चुकी, तब कुबेर ने श्रीकृष्ण से नगरी में प्रवेश करने की प्रार्थना की। उसके कहे अनुसार अच्छे मुहूर्त में सत्पुरुष और अपने बन्धुओं के साथ श्रीकृष्ण ने द्वारका में प्रवेश किया। सबका भोजन पानादि से उचित सम्मान किया गया और उन्हें अच्छे-अच्छे स्थान रहने को दिये गये। जब श्रीकृष्ण सब लोगों की व्यवस्था कर चुके, तब वे स्वयं भी एक सुन्दर राजमहल में रहने लगे। राजमहल की गजशाला और वाजिशाला आदि से और भी अधिक श्री हो गयी थी। बड़े-बड़े ऊँचे और मनोहर गृहों से शोभित द्वारका इतनी सुरम्य जान पड़ती थी मानो निराधार स्वर्ग का एक भाग टूटकर गिर पड़ा है। ठीक है, इन्द्र की आज्ञा से और जिन भगवान की भक्ति से जिस नगरी की रचना कुबेर के द्वारा हुई है, उसका वर्णन करना एक तरह असम्भव सा ही प्रतीत होता है।

श्रीकृष्ण का पहला विवाह सुकेतु विद्याधर की कन्या सत्यभामा के साथ हुआ और वही उनकी पट्टरानी कहलायी। तथा दूसरा भीष्मराजा की पुत्री रुक्मणी से हुआ, जिसे श्रीकृष्ण शिशुपाल का वध करके बलपूर्वक ले आये थे। इसके बाद क्रम से जाम्बवती, सुसीमा, पद्मावती, गौरी, गान्धारी, लक्ष्मीमती आदि सोलह हजार

राजकुमारियों के साथ उनका विवाह हुआ। इनके साथ श्रीकृष्ण के दिन बहुत ही सुखपूर्वक बीतते थे। इन स्त्रियों से उनके प्रद्युम्न आदि पुत्र और अनिरुद्ध आदि पौत्र हुए। श्रीकृष्ण तीन खण्ड का राज्य निष्कण्टक होकर करने लगे। उनका शत्रु कोई न रहा।

उन्होंने अनेक देशों को अपने आधीन किया। न्यायरहित प्रजा का शासन करनेवालों को दण्ड देना और सज्जनों को सन्तुष्ट करना यह उनकी राज्यशासन पद्धति थी। इसी तरह सुखपूर्वक राज्य करते-करते श्रीकृष्ण का बहुत समय बीत गया। अब उसके आगे की घटना का उल्लेख किया जाता है।

द्वारका सारी पृथ्वी में उस समय एक ही सुन्दर नगरी थी। श्रीकृष्ण का प्रजापालन उत्तम समझ करके उसमें इधर-उधर के लोग आने लगे। एक वक्त बहुत से व्यापारी मिलकर व्यापार करने के लिये राजगृह से चलकर द्वारका आये और वहाँ से बहुत सी अच्छी-अच्छी वस्तुएँ खरीदकर वापिस राजगृह आये तथा अपने महाराज से मिले। उन्हें प्रणामकर जो वस्तुएँ द्वारका से लाये थे, उन्हें महाराज की भेंट की। उन्हें देखकर जरासंध ने उनसे पूछा — तुम लोग इस समय किस देश से आ रहे हो? और किन-किन देशों की तुमने इतने दिन तक यात्रा की। तब उत्तर में व्यापारियों ने कहा — हम लोग द्वारका गये थे। जरासंध ने फिर पूछा — अच्छा यह तो बताओ कि द्वारका का स्वामी कौन है? उसका जन्म किस कुल में हुआ है? कितनी उसकी शक्ति है? और उसके पास कितनी सेना है? व्यापारियों ने कहा — महाराज! वहाँ हमने सुना था कि द्वारका के स्वामी का नाम श्रीकृष्ण है, उनका जन्म यादवकुल में हुआ है, उनका राज्य तीन खण्ड में है और उनने शिशुपाल का

विध्वंस किया है। उनकी सेना तथा शक्ति का परिचय किसी के द्वारा दिया जाना सम्भव नहीं। जरासंध ने कहा—ये यादव कौन हैं, जिनके वंश में कृष्ण उत्पन्न हुआ है? व्यापारियों ने उत्तर दिया—महाराज! देखने से तो यादव बड़े ही तेजस्वी जान पड़ते हैं। उनकी प्रसिद्धि सारी पृथ्वी में हो रही है। उनके नाम—समुद्रविजय, उग्रसेन, वसुदेव आदि हैं। इनमें वसुदेव का पुत्र श्रीकृष्ण है। इसी के द्वारा कंस की मृत्यु हुई है। महाराज! श्रीकृष्ण द्वारका का निष्कण्टक राज्य करते हैं। यह सुनते ही जरासंध का क्रोध उबल उठा। उसने कहा कि—क्या पापी यादव अभी तक पृथ्वी पर जीते हैं? व्यापारियों ने कहा—महाराज! हाँ, यादवकुल का विस्तार तो सारी पृथ्वी में हो रहा है। इतना कहकर वे लोग अपने-अपने घर चले गये।

उनके चले जाने पर जरासंध अपने मन्त्रियों को बुलवाकर उनसे बोला—यादववंश सारी पृथ्वी में फैल रहा है, पर तुम लोगों ने तो यह हाल मुझसे अभी तक नहीं कहा। सुनकर बेचारे मन्त्रियों ने कुछ सोच-विचारकर कहा कि—महाराज—यादवों के होते हुए भी आपको जो उनका हाल न कहा गया। इसका एक कारण है, जरासंध बोला—वह क्या कारण है, जिससे शत्रुओं की सूचना मुझे न दी गयी। मन्त्रियों में से किसी एक ने कहा—महाराज! बात तो यह है कि हमें अभी यादवों से शत्रुता करना उचित नहीं जान पड़ती। क्योंकि इस वक्त यादवों की दशा बहुत अच्छी है। यदि आप अभी उनसे विरोध करेंगे, तो जीवन तक रहना दुर्लभ हो जाएगा? और इसीलिए हम लोग आज तक चुपचाप रहे। आप भी इस विषय की चिन्ता कुछ समय के लिये छोड़ दें। मन्त्रियों की बात सुनते ही जरासंध रुष्ट होकर उठ खड़ा हुआ और हाथ में

खंग लेकर चलने के लिये तैयार हो गया। बेचारे मन्त्रियों ने फिर भी प्रार्थना की कि—महाराज! अविचार से काम न करें। आप नहीं जानते कि कृष्ण ऐसा वैसा साधारण पुरुष नहीं है। यदि आपको उससे युद्ध ही करना अच्छा जान पड़ता है तो पहले उसके पास दूत भेजिये। जरासंध ने किसी तरह उनके कहने को स्वीकार किया और फिर बुद्धिशेखर दूत को बुलाकर उसे द्वारका की ओर रवाना किया। दूत द्वारका पहुँचकर द्वारपाल की आज्ञा ले सभा में गया, जहाँ श्रीकृष्ण विराजे थे। उसने अपने स्वामी के घमण्ड में आकर श्रीकृष्ण का विनय तक भी न किया। जब उसकी दृष्टि यादवों से सुसज्जित सभा में पड़ी, तो उसके देखते ही वह आश्चर्य से कर्तव्यमूढ़ हो गया। कुछ देर ठहरकर वह कहने लगा कि—महाराज! मुझे अपने स्वामी जरासंध का कुछ सन्देशा आपसे कहना है, सो उसे जरा ध्यानपूर्वक सुनिये—मैं तुम्हारी दुर्विनीतता कहाँ तक सहन करूँ? तुमने मेरे जमाई तक को मार दिया और मेरे छोटे भाई अपराजित की भी यही हालत की। इतना होने पर भी तुम्हें इतना घमण्ड है, जो जरासन्ध के आधीनता में रहना नहीं चाहते? तुम यह मत समझो कि हम तो समुद्र के बीच में रहते हैं, हमें किसका डर? तुम डर करके द्वारका में जाकर बसे हो। सो, तुम्हारा यह डर ही तुम्हारे जीवन को नि:सार कर रहा है। इसलिए आकर जरासंध की आधीनता स्वीकार करो। तभी जीवन स्थिरता से बिता सकोगे? उसकी सेवा से पराङ्मुख होकर रहना बड़ी ही मूर्खता है। दूत के इन वचनों से यादवों को बड़ा ही क्रोध आया। उन्होंने उसी वक्त दूत को सभा से बाहर निकलवा दिया। दूत ने आकर जरासंध को सब बातें कह सुनाई जो यादवों ने उससे कहीं थीं। सुनते ही जरासंध को बड़ा क्रोध आया। वह उसी वक्त सेना लेकर युद्ध करने को कुरुक्षेत्र की ओर

चल पड़ा। उधर कृष्ण ने जब सुना कि जरासंध ससैन्य कुरुक्षेत्र में आ उपस्थित हुआ है, तब वे भी अपनी सेना लेकर युद्धभूमि में आ पहुँचे। दोनों ओर की सेनाओं में नानातरह के युद्ध के बाजे बजने लगे। जरासंध की सेना में चक्रव्यूह की रचना की गयी। उधर कृष्ण की सेना में वसुदेव ने गरुड़व्यूह रचा। दोनों व्यूह में परस्पर घोर युद्ध आरम्भ हुआ। इस युद्ध की भीषणता देखकर आकाश से देखनेवाले देवता तथा दानवों को बड़ा ही चमत्कृत होना पड़ा। उस वक्त हाथियों के गर्जने का, घोड़ों के हींसने का, रथों के चीत्कारों का, पैदल सेना के बोलने का, अनेक तरह के बाजों के बजने का, भाट लोगों के जयध्वनि का और धनुष पर ज्या के चढ़ाने का इतना कोलाहल हुआ कि—दिशायें शब्दमयी हो गईं—कानों से सुनना तक कठिन हो गया। हाथी हाथियों के साथ, घोड़े घोड़ों के साथ, रथ रथों के साथ और पैदल सेना अपने समानवाले के साथ भयंकरता से लड़ने लगी। दोनों सेनाओं में बड़ा भारी घमासान युद्ध हुआ। जरासंध की सेना ने यादवों की सेना को तीन तेरह करना आरम्भ किया। बलभद्र ने देखा कि—सेना भागी जा रही है, तब वे स्वयं उठे और जरासंध की सेना से जा भिड़े। भिड़ते ही उन्होंने अपने पराक्रम का अलौकिक परिचय दिया। उस समय जरासंध की सेना को जिधर रास्ता मिला, उधर ही वह भागने लगी। यह देख रूप्यकुमार श्रीनेमिनाथ से युद्ध करने के लिये इस तरह सन्नद्ध हुआ, जैसे हरिण सिंह से लड़ने की इच्छा करता है। नेमिनाथ ने उद्वेग में आकर ऐसे जोर से बाण चलाये कि उनसे हजारों योद्धा देखते-देखते धराशायी हो गये। उधर जरासंध और श्रीकृष्ण की मुठभेड़ हुई। कृष्ण ने उसकी सारी सेना तितर बितर कर दी। अस्त्र -शस्त्र से दोनों का घोर युद्ध हुआ, परन्तु तो भी जरासंध श्रीकृष्ण को कुछ भी हानि न

पहुँचा सका। उस समय उसने और कुछ उपाय न देखकर श्रीकृष्ण के ऊपर चक्र चलाया, जिसे देखकर देत्यों तक की छाती दहल जाती थी। चक्र श्रीकृष्ण की प्रदक्षिणा देकर उल्टा उनके हाथ में आ गया। फिर श्रीकृष्ण ने उसी चक्र को अपने शत्रु के ऊपर चलाया और वह जरासंध को धराशायी करके—मारके वापिस श्रीकृष्ण के हाथ में आ उपस्थित हुआ। श्रीकृष्ण की सारी सेना में जयध्वनि होने लगी। उनकी आज्ञा का सब जगह विस्तार हुआ। श्रीकृष्ण वहीं पर जरासंध के पुत्र के लिये राज्य देकर और दिग्विजयी होते हुए द्वारका में आ गये। देखो! जो चक्ररत्न जरासंध के पास था, वही अपने स्वामी को मारकर श्रीकृष्ण के हाथ में आ गया। यह सब पुण्यकर्म का फल है। इस चक्ररत्न के साथ और भी सात रत्न थे, जो श्रीकृष्ण को प्राप्त हुए। जिस समय का यह कथन है, उस समय यादवों की संख्या छप्पन करोड़ थी। वे संसार भर में प्रसिद्ध हो गये थे।

एक दिन की बात है कि बलदेव, वसुदेव आदि सब यादव जब सभा में बैठे हुए थे, तब यह बात चल पड़ी कि—इस वक्त सबमें अधिक बलवान कौन है? तब किसी ने पाण्डवों को बताया, किसी ने वसुदेव को, किसी ने बलदेव को और किसी ने वासुदेव श्रीकृष्ण को। जब सब लोग अपना-अपना गाना गा चुके, तब बलदेव कुछ हँसकर बोले—आप लोग बड़े अनभिज्ञ हैं, जो व्यर्थ औरों की झूठी स्तुति कर रहे हैं। क्या आप श्रीनेमिनाथ के बल को नहीं जानते कि वे कितने बली हैं? अरे! बेचारे दीन लोग करोड़ भी हों, तो उनसे क्या? पृथ्वी में एक नेमिनाथ ही अनुपम पराक्रमी हैं। जहाँ भगवान विराजे हैं, वहाँ और कौन अधिक बली कहा जा सकता है? क्या तुमने कभी केसरी के सामने बेचारे हिरण बलिष्ट होते देखे हैं? बलभद्र के द्वारा की हुई नेमिनाथ की प्रशंसा श्रीकृष्ण को सह्य नहीं

हुई। उन्हें अन्तरंग में तो बहुत बुरा लगा, परन्तु ऊपर से हँसकर वे नेमिनाथ से बोले—हे महावाहो! हम लोग बड़े पराक्रमी समझे जाते हैं। परन्तु आओ, आज हम और आप कुश्ती लड़कर अपने-अपने बल की परीक्षा करें? यह कहकर श्रीकृष्ण लंगोट बाँधकर और भुजायें ठोंककर नीचे उतर पड़े। तथा नेमिनाथ से बोले—लीजिये आप भी जल्दी उतरिये। यह देख नेमिनाथ ने कहा—इतने लोगों के सामने हम लोगों का लड़ना ठीक नहीं जान पड़ता है। लड़ने पर हम लोगों में से किसी एक को अवश्य ही नीचा देखना पड़ेगा। ऐसा लड़ना तो ग्वालों को ही शोभा देता है, न कि अच्छे बलवानों को। विचारो, यदि हममें से कोई गिर पड़ा, तो फिर उसकी प्रतिष्ठा क्या कुछ बची रहेगी? इसलिए मैं कुछ और ही बात कहना चाहता हूँ। यदि तुम अपने को बली समझते हो, तो समझो इसमें कुछ हानि नहीं। किन्तु मेरे बल के साथ यदि परीक्षा करना ही तुम्हारा अभीष्ट है, तो इसके लिये केवल इतनी शर्त रखी जाती है कि यदि तुम मेरे पाँव को सिंहासन से हटा दोगे, तो मैं सब युद्ध में तुमसे अपनी हार स्वीकार कर लूँगा। नेमिनाथ के कहते ही कृष्ण दौड़े और अपने पाँवों को जमीन पर मजबूत जमाकर नेमिनाथ के पाँवों को खूब जोर के साथ खींचने लगे। परन्तु उसे वे अपने स्थान से जरा भी न हटा सके। इस घटना से कृष्ण का मुख कुछ मुरझाया। यह देख नेमिनाथ ने कहा—खैर, यदि पाँव को नहीं हटा सकते, तो न सहीं; हमारे हाथ ही को नीचे की ओर झुका दो। श्रीकृष्ण ने उनका हाथ पकड़कर उसके नीचे झुकाने की भी बहुत कोशिश की, परन्तु वे उसे तिलमात्र भी न झुका सके। फिर भी नेमिनाथ बोले—अस्तु, इसे भी जाने दो, चिन्ता छोड़ो। सुनो, यदि तुम हमारे बायें हाथ की अँगुली को भी अपनी शक्ति से नवा दोगे, तब भी हम तुमसे अपनी

हार स्वीकार कर लेंगे। इसे तुम निश्चय समझो। श्रीकृष्ण ने अँगुली पकड़ी। पकड़ते ही नेमिनाथ उन्हें अँगुली के साथ-साथ ऊपर उठाकर झुलाने लगे। नेमिनाथ की इस अपार शक्ति को देखकर आकाश में देव दुंदुभि बजाने लगे। जय जय ध्वनि से गगन मण्डल गूँज उठा। पुष्प वर्षाकर देवता भगवान की स्तुति करने लगे—नाथ! वास्तव में आप अनन्तवीर्य हैं। संसार में आपके समान और कोई बली नहीं है। यह देख कृष्ण को बड़ा ही दु:ख हुआ। उन्हें सबके सन्मुख मुख नीचा करना पड़ा। एक दिन श्रीकृष्ण ने बलभद्र से कुछ बातचीत करते-करते कहा कि—नेमिनाथ बड़े बलवान हैं। सम्भव है कि वे कभी मेरा राज्य भी छीन लें। बतलाईये क्या उपाय करना चाहिए, जिससे राज्य सुरक्षित रह सके? कुछ विचार करके श्रीकृष्ण ने एक ज्योतिषी को बुलवाया और उससे पूछा कि क्या नेमिनाथ किसी तरह विरक्त किये जा सकते हैं? श्रीकृष्ण के आशय को समझकर ज्योतिषी ने कहा—हाँ एक उपाय है। वह यह कि जब नेमिनाथ को कोई हिंसा का कारण दीख पड़ेगा तो वे नियम से विरक्त हो जावेंगे और संसार को छोड़कर दीक्षा ले लेंगे। ज्योतिषी का भविष्य सुनकर कृष्ण भी उसी तरह के उपाय के योजना की चिन्ता में लगे।

शीतऋतु व्यतीत होकर बसन्तऋतु का आगमन हुआ। लोगों के दिलों में आनन्द की तरंगें लहराने लगीं। स्त्रियों को काम पीड़ा पहुँचाने लगा, बेचारे विरही लोगों की हालत भी बुरी होने लगी, जो स्त्रियाँ मानिनी थीं उनका मान भंग हुआ, आम्र के वृक्षों पर प्यारे बौर आ गये, कोकिलाओं की सुन्दर कण्ठध्वनि होने लगी, वनों में किंशुक के लाल-लाल फूलों ने विलक्षण सौन्दर्य ला दिया। ऐसा मालूम होता था, मानो वन लोगों की विरहाग्नि से

सन्तप्त हो उठा हो। चम्पक और पाटल पुष्पों से सारा वन विकसित हो उठा, सरोवरों की कमलों ने शोभा बढ़ा दी। थोड़े में यों कहिये कि—जितनी पुष्प जातियाँ थीं, वे सब विकसित होकर बसन्त की शोभा बढ़ाने लगीं। इन सुखद दिनों में श्रीकृष्ण अपनी प्रियाओं को साथ लेकर वनक्रीड़ा करने को गये। साथ में उन्होंने नेमिनाथ भी ले लिये। वन में श्रीकृष्ण के नौकरों ने पहले ही पहुँचकर केशर और चन्दनादि सुगन्धित वस्तुओं से छोटी-छोटी वावड़ियाँ भर दी थीं और सुगन्धित वृक्षों के पराग से मिली हुई गुलाल भी बहुत सी पहुँचा दी गयी थी। चारों ओर खूब फूल इकट्ठे किये गये थे; जिन्हें देखते ही स्त्रियों के मन में काम का वेग उमड़ आता था। श्रीकृष्ण नेमिनाथ को साथ लिये हुए वहीं पहुँचे और जलक्रीड़ा करने लगे। कृष्ण की स्त्रियाँ उनके ऊपर बार-बार जल उलीचने लगीं। और भी नाना तरह से जैसा उन्हें सूझा वे कृष्ण के साथ खेलने लगीं। कृष्ण भी जैसी-जैसी उनकी उत्कृण्ठा होती थी, उसे पूरी करते जाते थे। खेलते-खेलते उन्होंने बसन्त के गीत गाना शुरु किये, जिनके सुनने से पुरुषों का मन मुग्ध हो जाता था। इसी तरह बहुत देर तक खेल खिलाकर श्रीकृष्ण तो जल के बाहर निकलकर कहीं चले गये और अपनी स्त्रियों को इशारे से बतलाते गये कि नेमिनाथ के चित्त को जिस तरह हो सांसारिक वासनाओं की ओर आकर्षित करना। तद्नुसार कृष्ण के जाते ही उन्होंने नेमिनाथ के साथ खेलना आरम्भ किया। नाना तरह की वे उनसे हँसी करने लगीं, केशर डालने लगीं, पिचकारी मारने लगीं और इस सम्बन्ध में कि तुम विवाह क्यों नहीं करते हो, बड़े-बड़े ताने मारने लगीं। क्रीड़ा समाप्त हो जाने पर सब स्त्रियाँ जल से बाहर निकलीं। नेमिनाथ भी बाहर आये और अपने गीले वस्त्र को अलग करके

जाम्बवती से बोले—हमारे वस्त्र को निचोड़ दो। हमें घर जाना है, सो जल्दी करो। जाम्बवती सुनकर बहुत रुष्ट हुई ओर बोली—यह काम अपनी स्त्री से करवाइये, मुझसे यह नहीं हो सकता। तुम जानते हो–जो सुदर्शन चक्र चला सकता हो, नागशैय्या पर सोने की जिसमें शक्ति हो, जो पांचजन्य शंख पूर सकता हो, जो सारंग धनुष पर ज्या चढ़ा सके वही मुझे ऐसी आज्ञा दे सकता है न कि तुम सरीखे शक्तिहीन पुरुष। इसलिए दूसरों का काम मैं नहीं कर सकती। जाम्बवती की इस उद्धतता से नेमिनाथ के दिल में बहुत दु:ख पहुँचा। वे वहाँ से चलकर कृष्ण की युद्धशाला में पहुँचे और वहाँ ताल ठोककर उन्होंने सुदर्शन चक्र को पाँव के अँगूठे से घुमाया, नागशैय्या पर शयन किया, धनुष पर ज्या चढ़ाई और शंख को नासिका के छिद्र से पूरा। शंख का शब्द होते ही लोगों को प्रलयकाल की सम्भावना होने लगी। कृष्ण एकदम घबराकर बोले—यह क्या? कोई दैत्य तो नहीं आ गया? किसी ने कृष्ण को जाकर यह सब हाल सुना दिया और कहा—नेमिनाथ ने तुम्हारी र्भाया पर रुष्ट होकर यह सब लीला की है। श्रीकृष्ण उसी वक्त युद्धशाला में आये और ऊपर से कुछ हँसकर भाई नेमिनाथ से बोल—विभो! आपके जरा से क्रोध से बेचारे साँप मरे जाते हैं, इसलिए केवल स्त्रियों के वचनों पर आपको ऐसा करना उचित नहीं जान पड़ता। आपके बल का परिचय तो मैंने पहले ही पा लिया था, अब उसके विशेष परिचय की जरूरत नहीं है। आप क्रोध को छोड़ें। क्योंकि यह उत्तम पुरुषों के द्वारा आदरणीय नहीं है। भगवान को सन्तुष्ट कर श्रीकृष्ण उनसे मिले और बाद उन्हें अपने साथ घर पर लिवा ले गये। वहीं दोनों ने भोजन किया। भोजन करने के बाद श्रीकृष्ण शिवादेवी के पास पहुँचे और उसको कहने लगे कि—

माता! भगवान अब युवा हो गये हैं, उनका विवाह होना चाहिए। देवी ने श्रीकृष्ण से कहा—कृष्ण! तुम हमारे घर के अधिकारी हो और तुम्हीं सब कामकाज के करनेवाले हो, इसलिए नेमिनाथ के विवाह की कोशिश तुम्हें ही करनी उचित है। जो काम तुम करोगे, वह सबको मान्य होगा। सो विचारकर जो कर्तव्य है, उसे अपनी इच्छानुसार करो। शिवादेवी की सम्मति लेकर श्रीकृष्ण बलभद्र को साथ लेकर उग्रसेन की नगरी में पहुँचे। उग्रसेन ने इनका बहुत कुछ आदर-सत्कार किया। उग्रसेन के इस आदर से ये बहुत ही सन्तुष्ट हुए। थोड़ी देर तक कुछ बातचीत होने के बाद श्रीकृष्ण ने नेमिनाथ के साथ राजकुमारी के विवाह की बात छेड़ी। उग्रसेन ने श्रीकृष्ण का कहना स्वीकारकर अपनी पुत्री का विवाह नेमिनाथ से करना निश्चित कर दिया। श्रीकृष्ण वहीं पर लग्न वगैरह का ठीक निश्चयकर घर पर आये। इतनी बात और भी ध्यान में रखनी चाहिए कि श्रीकृष्ण जूनागढ़ में कुछ जीव वध के विषय की भी गुप्त मन्त्रणा कर आये थे। इतने में वर्षाकाल आ गया। उन्हीं दिनों में नेमिनाथ के विवाह का काम चलाया गया। सगे-सम्बन्धी जन निमन्त्रण पत्र भेजकर बुलवाये गये। उग्रसेन के यहाँ भी निमन्त्रण भेजा गया। उसने बहुत से लोगों को द्वारका भेजा। आये हुए अतिथियों का भोजनादि से खूब सम्मान किया जाने लगा। कुछ दिनों बाद द्वारका से बारात विदा हुई। रथ बहुत सुन्दरता के साथ सजाया गया था। उसी में भगवान नेमिनाथ खूब आभूषणों से विभूषित करके बैठाये गये थे और भी रथ, हाथी, घोड़े तथा पैदल सेना आदि बहुत कुछ राज्य विभव साथ में लिया गया था। अनेक तरह के बाजों से आकाश और पृथ्वी शब्दमय हो गयी थी। श्रीकृष्ण याचक लोगों को दान देते हुए द्वारका से बाहर निकले। बारात का

आगमन समाचार सुनकर राजीमती ने अपने को अलंकारादि से खूब शृंगारा। भगवान तो रण के पास आये ही थे कि इतने में उनके कानों में पशुओं का विलविलाना सुन पड़ा। भगवान ने सारथी से पूछा — ये पशु क्यों विलविला रहे हैं? और क्यों इकट्ठे किये गये हैं? इनके करुणाजनक शब्दों से हृदय बड़ा ही विकल हुआ जाता है। सारथी ने कहा — नाथ! ये पशु आपके विवाह के लिये एकत्रित किया गये हैं। आज ही यादवों के लिये इनका वध होगा। इन सब पशुओं को महाराज ने एकत्रित करवाये हैं। सारथी के वचन सुनते ही भगवान को अनाथ पशुओं के ऊपर बड़ी ही दया आयी। वे उसी समय लोगों के देखते-देखते रथ को लौटा ले गये। रथ के लौटा कर ले जाने पर लोगों में हाहाकार मच गया। उग्रसेन को बड़ा ही दु:ख हुआ। उधर राजकुमारी ने जब यह चर्चा सुनी, तब वह भी अधीर हो उठी और बड़ी दीनता से रोती हुई भगवान के पीछे-पीछे हो चली। लोगों ने भगवान के रोकने का बहुत कुछ उपाय किया परन्तु वे किसी तरह न रुके। लोगों ने उनसे वापिस लौटने का कारण पूछा। भगवान बोले — पहले आप यह बतावें कि — ये बेचारे निरपराध जीव क्यों मारे जाते हैं? विवाह का यह घोर फल तो मैंने पहले ही देख लिया और आगे नहीं कहा जा सकता कि क्या-क्या अनर्थ देखने पड़ेंगे? लोगों ने यह सब दोष श्रीकृष्ण के ऊपर ही मढ़ा। इस अपवाद को सुनकर श्रीकृष्ण भगवान से बोले — नाथ! यह असह्य लोकापवाद जो मेरे ऊपर लगा है, उसका हटाना आप ही के हाथ है। मेरे ऊपर दया करके जो काम आपने विचारा है, उसे पूरा कीजिये। श्रीकृष्ण ने भगवान से बहुत कुछ प्रार्थना की परन्तु भगवान ने फिर विवाह करना स्वीकार नहीं किया। वे श्रीकृष्ण को किसी तरह सन्तोष देकर और पशुओं को छुड़ाकर गिरनार पर्वत पर जा पहुँचे। उस समय

लोकान्तिक देवों ने भी आकर और भगवान के वैराग्य की प्रशंसा कर अपना नियोग पूरा किया। पश्चात् भगवान को पालकी में बैठाकर उन्हें वे गिरनार पर्वत के सहस्रावन में लिवा ले गये। भगवान ने सब वस्त्राभरणों का परित्याग कर अपने सिर के केशों का लौंच किया। केशों को ले जाकर इन्द्र ने क्षीर समुद्र में डाल दिया। पश्चात् भगवान ने बाह्य और अन्तरंग परिग्रह का त्याग कर और सिद्ध भगवान को नमस्कार कर पावन जिनदीक्षा स्वीकार की। उस समय सब देव आये और भगवान का दीक्षोत्सव करके अपने -अपने स्थान चले गये। भगवान के साथ-साथ और भी एक हजार राजाओं ने दीक्षा ली। दीक्षा लेकर भगवान दो दिन तक ध्यान में लीन रहे। बाद तीसरे दिन हीरपुर में धनदत्त सेठ के यहाँ भगवान का पारणा हुआ। छप्पन दिन के बाद ध्यानवह्नि से चार घातियाकर्मों का नाश करके भगवान केवलज्ञानी हो गये। उस दिन आश्विन शुक्ल प्रतिपदा और प्रात:काल का समय था। केवलज्ञान होते ही इन्द्र ने आकर गिरनार पर्वत पर बारह कोठों से सुसज्जित समवसरण रचा। उसमें डेढ़ योजन चौड़ा और तीन प्रकारों से सुशोभित देदीप्यमान भद्रपीठ, मानस्तम्भ, सुन्दर-सुन्दर सरोवर, खाई, पुष्पवाड़ी, नाट्यशाला, वेदिका, ध्वजा और स्तूप आदि और भी बहुत सी मनोहर वस्तुएँ बनायी। भगवान सिंहासन पर विराजे। देवता उनके ऊपर चँवर डुलाने लगे। भगवान के ग्यारह गणधर हुए। जब द्वारका में भगवान के केवलज्ञान की चर्चा फैली, तो श्रीकृष्ण आदि सभी द्वारिका के लोग भगवान के दर्शन करने को आये और उनके साथ-साथ बहुत सी स्त्रियाँ भी आयीं और भगवान का उपदेश सुनकर राजीमती आदि बहुत सी स्त्रियों ने आर्यिका के व्रत की दीक्षा ली।

भगवान ने दशलक्षण गर्भित गृहस्थधर्म तथा मुनिधर्म का उपदेश दिया और कितने भव्य पुरुषों को सुमार्ग की ओर लगाकर वे दूसरे देशों में विहार कर गये। जब उनके विहार के समाचार श्रीकृष्ण ने सुने, तो वे अपने भाईयों को समझा-बुझाकर भगवान के पास लाये और उन्हें जिनदीक्षा दिलवा दी।

भगवान और देशों में विहार कर पीछे गिरनार पर्वत पर आये। इन्द्र ने समवसरण रचा। भगवान के आने के समाचार सुनकर द्वारका के सब लोग उनके दर्शन को आये। स्त्रियों के साथ वसुदेव की स्त्री देवकी भी भगवान के दर्शन करने को आयी और उनकी पूजा कर धर्मोपदेश के बाद उसने भगवान से पूछा—नाथ! दिगम्बर मुनि एक दिन में दो वक्त आहार ले सकते हैं या नहीं? भगवान ने कहा—दिगम्बर मुनि एक दिन में दो वक्त आहार नहीं कर सकते। तब फिर देवकी ने कहा कि—नहीं कहा जा सकता कि वास्तव में बात क्या है? मेरे घर पर आज दो मुनि तीन वक्त आहार कर गये और वे मुझे एक ही सरीखे जान पड़े। भगवान बोले—यह तेरा भ्रम है, जो मुनि आहार के लिये तीन वक्त आये हैं, वे सब दूसरे ही हैं। परन्तु बात यह है कि वे छहों तेरे ही पुत्र हैं। यह सुनकर देवकी का सन्देह दूर हुआ। वह पुत्रप्रेम से विह्वल होकर उसी समय उन मुनियों के पास गयी और उनके पाँवों में गिरकर नेत्रों से हर्षाश्रुओं की धारा बहाने लगी। इस घटना का हाल जब और और लोगों ने सुना, तो उन्हें भी संसार की लीला देखकर बड़ा ही वैराग्य हुआ। बहुत से भव्यों ने तो उसी समय जिनदीक्षा स्वीकार कर ली, बहुतों ने अणुव्रत धारण किये, कितनों ने केवल सम्यक्त्व ग्रहण किया और कितनों ने भगवान की पूजा करने की ही प्रतिज्ञा ली। उस समय भगवान से देवकी ने अपने पूर्वजन्म का हाल पूछा

और श्रीकृष्ण की आठों स्त्रियों ने भी अपने-अपने पुण्य-पाप की कथा पूछी। भगवान ने सभी के प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर दे दिया। इसके बाद बलदेव ने भी भगवान से तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र, वासुदेव और प्रतिवासुदेव आदि के उत्पन्न होने की बात पूछी—अर्थात् इतने ऊँचे-ऊँचे पद कैसे मिलते है? भगवान ने सबका खुलासा वृत्तान्त कह सुनाया। वहीं पर गजकुमार भी बैठा-बैठा यह सब हाल सुन रहा था। सुनकर उसे संसार से बड़ा वैराग्य हुआ। वह उसी समय वन में गया और जिनदीक्षा लेकर कठिन से कठिन तपश्चर्या करने लगा। उसने बड़े ही धैर्य के साथ भयंकर उपसर्ग सहे। अन्त में वह कर्मों का नाशकर अविनश्वर सुख के भवन मोक्ष में जा बसा।

बलदेव ने कुछ भविष्य की बातें जानने की इच्छा से भगवान से पूछा कि स्वामी! जो संसार में जन्म लेते हैं, उनकी मृत्यु अवश्यंभावी है और यही आपके शासन में भी उपदिष्ट है। फिर कृपा कर यह बताइये कि श्रीकृष्ण की मृत्यु किस तरह होगी? और द्वारका ध्वंस किसके द्वारा तथा किस कारण से होगा? भगवान ने कहा—बलदेव! तुम्हारा पूछना ठीक है, परन्तु जो बातें नियम से हुआ करती हैं, उन्हें मैं ही क्या कहूँगा। बलदेव बोले—नाथ! आप जो कहते हैं, वह वास्तव में ठीक है, तो भी आपको कुछ कहना चाहिए। कारण जीवों को भविष्य के जानने की बड़ी आकांक्षा हुआ करती है। बलदेव का अधिक आग्रह देखकर भगवान ने कहा—बलदेव! सुनो, द्वारका का नाश द्वीपायन मुनि और मदिरा के निमित्त से होगा। इसकी अवधि आज से लेकर बारह वर्ष है। और श्रीकृष्ण की मृत्यु जरत्कुमार के द्वारा होगी। बलदेव ने भगवान का कहना सुना और श्रीकृष्ण के पास जाकर उनसे सब हाल कह

सुनाया। सुनकर श्रीकृष्ण ने उसी समय सारे शहर में यह घोषणा दिलवा दी कि—जो आज से मेरे राज्य में मदिरापान करेगा, वह राजद्रोही समझा जाकर उचित दण्ड का पात्र होगा। और जिन-जिन के यहाँ मदिरा बनाने के बर्तन तथा और कुछ इसकी सामग्री हो, उसे वे शहर से ले जाकर पर्वत की गुहाओं में डाल आवें। श्रीकृष्ण की आज्ञा होते ही सब लोग मदिरा के निष्पन्न करने की सामग्री को पर्वतों की गुहाओं में फेंक आये। श्रीकृष्ण ने प्रजा से एक बात और कही। वह यह थी कि—इस समय जिस किसी को जिनदीक्षा लेनी हो, वह खुशी के साथ ग्रहण करे। मेरा कुटुम्ब होने पर भी इस समय मैं उसे जिनदीक्षा ग्रहण करने से नहीं रोकूँगा। श्रीकृष्ण की इस हितकर आज्ञा से प्रजा को बहुत आनन्द हुआ। यह हाल देख श्रीकृष्ण की आठों स्त्रियों ने, प्रद्युम्नकुमार ने और भानुकुमार ने विलम्ब न कर, जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। उधर जब जरत्कुमार को यह बात जान पड़ी, तो वह भी अपने कुटुम्ब के लोगों को किसी तरह समझाकर कहीं चल दिया और शिकारी का वेष बनाकर वन में गुप्तरीति से रहने लगा। जब द्वीपायन के कानों में इस घटना का हाल सुन पड़ा, तब वे भी द्वारका से बहुत दूर जाकर दूसरे देश में रहने लगे। ग्रन्थकार कहते हैं कि, इन लोगों की बुद्धि पर खेद होता है जो इन उपायों से भगवान के वचन झूठे करना चाहते हैं। अर्थात् ये लोग कुछ भी क्यों न करें परन्तु जो भगवान ने कहा है, वह नियम से होवे हीगा। क्योंकि—

नान्यथा वादिनो जिना:।

अर्थात्—जिन भगवान झूठ नहीं बोलते।

बहुत समय बीत चुका। एक दिन यादव वन में क्रीड़ा करने को

गये। क्रीड़ा करते-करते वे थक गये। प्यास ने उन्हें बहुत सताया। परन्तु कहीं जल का पता नहीं। वन में खोज करते-करते उन्हें पुरानी बहुत दिनों की मदिरा का भरा हुआ एक गड्ढा मिल गया। गड्ढे की मदिरा वर्षा समय के जल गिरने से ताजी सी हो गयी थी। यादवों ने उसे जल समझकर पी ली। पीकर वे बहुत खुश हुए। वे लोग वन से घर पर आ रहे थे। रास्ते ही में उन्हें मदिरा का नशा चढ़ आया। नशा इतने जोर से चढ़ा कि वे उन्मत्त होकर नाना तरह की कुचेष्टायें करने लगे। वे इसी हालत में द्वारका के पास पहुँचे। वहाँ उन्हें ध्यान में बैठे हुए द्वीपायन मुनि दीख पड़े। द्वीपायन द्वारका के लोगों को यह शुभ समाचार सुनाने आये थे कि जिन भगवान ने जो मेरे द्वारा द्वारका का ध्वंस होना बतलाया था और उसकी अवधि बारह वर्ष की बतलायी थी, वह अब बीत चुकी और द्वारका की कुछ भी हानि नहीं हुई। उन्हें देखकर यादवों को द्वीपायन के द्वारा द्वारका दहन की बात याद हो आयी। इससे रुष्ट होकर उन्हें वे पत्थरों से मारने लगे। यह कहा जाता है कि नशे के निमित्त से पूर्व की बातों की जल्दी स्मृति हो आती है। पत्थरों की मार से मुनि का सारा सिर फट गया। उससे रुधिर की धारा बहने लगी। यद्यपि मुनि को बहुत भारी वेदना सहनी पड़ी, परन्तु तब भी वे क्रोधित न हुए और ध्यान में उसी तरह निश्चल बैठे रहे। परन्तु जब पापी यादवों ने मुनि के सिर पर भंगी से पेशाब करवायी, तब उनसे यह अपमान न सहा गया। क्रोध से उनके नेत्र लाल हो गये। वे उसी समय मूर्छा खाकर पृथ्वी पर गिर पड़े। उनके प्राणों के निकलने में कुछ ही देर थी कि, इतने में किसी ने जाकर यह सब घटना श्रीकृष्ण से कह सुनाई। सुनते ही बलदेव और श्रीकृष्ण उसी

वक्त मुनि के पास दौड़े आये और हाथ जोड़कर उनसे प्रार्थना करने लगे कि—प्रभो! आप जीवों के परिपालक हैं और दयालु हैं। आपका इन मूर्ख बालकों ने बहुत भारी अपराध किया है। उसे आप क्षमा करें। भगवान आपकी दया संसार भर में प्रसिद्ध है। उससे जब स्थावर जीवों तक को बाधा नहीं पहुँच सकती, तब उसी के द्वारा औरों की रक्षा होना तो साहसिक है। आप महात्मा हैं। क्रोध करना आपको उचित नहीं जान पड़ता। यह आप खूब अच्छी तरह जानते हैं कि, क्रोधियों की दुर्गति होती है। उन्हें कठिन से कठिन दु:ख भोगने पड़ते हैं। उसमें भी साधुओं के लिये तो क्रोध करना बड़ा ही निन्द्य समझा गया है। हमारी प्रार्थना पर आप ध्यान दें और इस चाण्डाल क्रोध के स्पर्श तक का परित्याग करें। द्वीपायन मुनि बहुत समझाये गये, परन्तु फिर भी उनका क्रोध शान्त नहीं हुआ। हो कैसे? उन्हें तो दुर्गति में जाना था। उन्हें द्वारका से कहीं अन्यत्र चले जाने के लिये कहा गया। परन्तु इसे भी उन्होंने न माना। सच है, जिन्हें क्रोधरूपी सर्प डस लेता है, फिर उनकी हालत सुधरना असम्भव हो जाती है। मुनि ने श्रीकृष्ण से इशारे से शहर में जाने को कह दिया। लाचार होकर वे शहर में चले गये। जाकर ही उन्होंने शहर में यह घोषणा दिलवा दी कि जिन्हें अपना जीवन प्यारा हो, वे इसी समय यहाँ से निकलकर दूसरे देश में चले जावें। घोषणा के सुनते ही शम्बुकुमार आदि बहुतों ने गिरनार पर्वत जाकर भगवान से जिनदीक्षा ग्रहण कर ली।

उधर द्वीपायन के प्राणों के निकलने की तैयारी हो रही थी, सो वे मरकर अग्निकुमार देव हुए। अवधिज्ञान से यादवों के द्वारा किये हुए दुराचार को यादकर वे उसी समय द्वारका में आये और उसके चारों ओर अग्नि लगाकर लोगों से बोले कि द्वीपायन मुनि अब यहाँ

से पक्षी तक को भी निकलने न देगा, फिर तुम्हारी तो बात ही क्या है? श्रीकृष्ण को जब इस भयंकरता की खबर लगी, तो वे झट से बलदेव के पास आये और उन्हें अपने साथ लेकर अपने माता-पिता को द्वारका के बाहर निकालने की कोशिश करने लगे। उन्हें रथ में बैठाकर द्वारका के बाहर निकलने के दरवाजे पर पहुँचे। जाकर देखते हैं, तो दरवाजे के किवाड़ बन्द हैं। वहाँ से दूसरे दरवाजे की ओर गये, तो उसके भी किवाड़ बन्द मिले। यह देखकर अग्निकुमार ने श्रीकृष्ण से कहा — श्रीकृष्ण तुम व्यर्थ ही खेद उठा रहे हो। सारी द्वारिका में केवल तुम और बलदेव ही बच सकोगे और कोई नहीं बचेगा। यह निश्चय समझो, अग्निकुमार की यह बात सुनकर बलदेव दौड़े हुए समुद्र पर पहुँचे और अपने हल के द्वारा जमीन खोदकर जल का नाला बहा लाये। परन्तु फिर भी कुछ फल नहीं निकला। पाप के फल से वह जल भी तैलरूप हो गया। ठीक है, जब दैव ही प्रतिकूल हो जाता है, तब न तो पाण्डित्य काम आता है और न शूरता ही।

श्रीकृष्ण के माता-पिता ने पुत्र के द्वारा अपना बचना कठिन समझकर चारों प्रकार के आहार का परित्याग कर दिया और जिनधर्म के ध्यान करने में जी लगाया। उसके प्रताप से वे अन्त में मरकर स्वर्ग में देव हुए।

देखते-देखते द्वारिका भस्म हो गयी। सारी नगरी में श्रीकृष्ण और बलदेव ही बचे। इस घटना से दोनों बहुत ही दु:खी हुए।

नोट – हरिवंशपुराण और प्रद्युम्नचरित्र में यह कथा द्वीपायन मुनि के शरीर से अशुभ पुतला निकला था और उसके द्वारा द्वारकादहन हुआ था, इस रूप में पायी जाती है परन्तु यहाँ दूसरी तरह देखी जाती है। इसका हेतु ठीक-ठीक नहीं जान पड़ता कि, यह विरोध क्यों है?

दु:ख का उद्वेग बहुत बढ़ा, अन्त में वे उसे सह न सके, सो दोनों मिलकर रोने लगे। कुछ देर बाद जब हृदय शान्त हुआ, तब वहाँ से रवाना होकर कौशाम्बी के बाहर वन में पहुँचे। कृष्ण को प्यास ने बहुत सताया। उन्होंने बलदेव से जल लाने के लिये कहा—बलदेव श्रीकृष्ण को वहीं पर किसी वृक्ष के नीचे बैठाकर आप जल लाने के लिये चले गये। वे बहुत दूर तक गये भी, परन्तु उन्हें कहीं जल का नाम निशान भी नहीं मिला और आगे बढ़े। कुछ दूर जाने पर एक तालाब उन्हें दीख पड़ा। वहाँ पहुँचे और कमलपत्र का पात्र बनाकर उसमें जल भर कर आने लगे।

उनके जल लेने को चले जाने बाद इधर जो कृष्ण के ऊपर बीती, उसे भी सुनिये—बलदेव जल लाने के लिये रवाना हुए और श्रीकृष्ण वृक्ष की ठण्डी छाया में लेट गये। उन्हें निद्रा ने धर दबाया। अकस्मात् उधर ही जरत्कुमार आ निकला। उसने श्रीकृष्ण के पाँव में कमल के चिह्न को देखकर समझा कि यह हिरण सो रहा है और जो यह चमक रहा है, वह उसका नेत्र है। उसने बाण धनुष पर चढ़ाया और निशाना लगाकर झट से मार दिया। शर के लगते ही श्रीकृष्ण चिल्ला उठे और बोले कि हाय! किस दुराचारी पापी ने यह शर मारा है? निर्जन वन में मुझ अकेले को मारकर उसने क्या लाभ उठाया? हाय, मैं मारा गया! उनके रोने की आवाज सुनकर जरत्कुमार दौड़ा आया। देखता है, तो श्रीकृष्ण सिसक रहे हैं। उससे यह घटना न देखी गयी, सो मूर्च्छित होकर वह पृथ्वी पर गिर पड़ा और रो-रोकर कहने लगा कि—हाय! तात! यह क्या अनर्थ हो गया? मैं आप ही के उद्देश से तो द्वारका छोड़कर वन में रहने लगा था। हाय! यहाँ भी पापी दैव ने मुझे अपराधी बना ही दिया। हाय!

मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? मुझ सरीखा दुष्कर्मी कौन होगा? सच है, पहले किये हुए कर्म नियम से भोगने पड़ते हैं। जरत्कुमार ने बहुत पश्चाताप किया और अपने अधम कर्म को धिक्कारा। भाई से क्षमा करवाने को वह उनके पैरों में गिर पड़ा। श्रीकृष्ण ने उसे दोषी होने पर भी क्षमा की और अपना भाई ही समझ वे उसके गले लग गये। बाद उन्होंने जरत्कुमार से कहा कि भाई! यह तो निश्चय है कि जीव को अपने किये कर्म अवश्य ही भोगने पड़ते हैं। अस्तु इसका अब तुम दु:ख न करो। जो होना था, वह हो चुका अब उसका शोक करना व्यर्थ है। मेरा कहना सुनो, अब तुम यहाँ से जल्दी चले जाओ। क्योंकि बलदेव जल लेकर रास्ते में आते ही होंगे। वे मेरी यह हालत देखकर तुम्हें नियम से मार डालेंगे। जरत्कुमार बोला — नाथ! अब मुझे ही जीकर क्या करना है? मैं तो अपने प्राण यहीं पर दे दूँगा। फिर श्रीकृष्ण ने कहा —यह तुम्हारी भूल है, जो ऐसा विचार करते हो। तुम जाओ, क्योंकि तुम्हारे जीवित रहने ही से कुल की रक्षा हो सकेगी। तुम्हें कुल की रक्षा करनी चाहिए। तुम दक्षिण दिशा की ओर जाना। उधर तुम्हें पाण्डव भी मिल जावेंगे। उन्हें यह सब हाल सुना देना। शायद वे तुम्हारे कथन का विश्वास न करें। इसलिए यह मेरा कौस्तुभमणि साथ लिये जाओ। इसे दिखाने देने पर उन्हें निश्चय हो जायेगा। जरत्कुमार श्रीकृष्ण के कहे अनुसार कौस्तुभमणि लेकर पाण्डवों के पास गया और जो हाल हुआ था, उसे उसने जैसा का तैसा कह सुनाया।

उधर श्रीकृष्ण ने परलोकयात्रा की। इतने में ही बलदेव भी जल लेकर आ गये। श्रीकृष्ण को मृत्युशैय्या पर पड़े हुए देखकर एकदम हताश हो गये। उन्हें बहुत दु:ख हुआ। जब उन्होंने उनके पैर की ओर

देखा, तो पैर में उन्हें एक बड़ा भारी घाव दीख पड़ा। देखकर उन्होंने समझा कि किसी दुष्ट ने शर के द्वारा इनके प्राण लिये हैं। श्रीकृष्ण की यह अवस्था उनसे अधिक देर तक नहीं देखी गयी। वे मुक्तकण्ठ होकर रोने लगे और कहने लगे कि—प्यारे, उठते क्यों नहीं? सोते-सोते बहुत देर हो गयी। देखो, मैं कब से जल लेकर आ गया हूँ। यह जल लो और पीकर अपनी तृषा को शान्त करो। यदि तुम जल न पीओगे, तो मैं ही फिर क्यों कर पी सकूँगा? इसी तरह बहुत देर तक रोते रहे। उनके रोने से भी जब श्रीकृष्ण की यही हालत रही; तब वे उन्हें अपने कन्धे पर रखकर वन में घूमने लगे। कभी वे उन्हें सुलाते और उनके साथ आप सोते। कभी गोद में ही सुलाये रहते। कभी बोलते और कभी उनसे हँसी करते। श्रीकृष्ण के शोक से उनकी पागल जैसी हालत हो गयी। सिंह की तरह वन में निर्भय होकर वे रहने लगे।

जरत्कुमार पाण्डवों के पास पहुँचा। उसने यादवों के ध्वंस की कथा आदि से लेकर अन्त तक ज्यों की त्यों पाण्डवों से कह सुनाई। सुनकर पाण्डवों को भी बहुत दु:ख हुआ। यादवों का असह्य शोक उनके हृदय में लहरें लेने लगा। दैव का दुर्विपाक बड़ा ही विचित्र है। किसी तरह चित्त में धीरता धारण की। अशौच मिटाने के लिए स्नान करने को गये।

पाण्डवों ने जरत्कुमार को अपने ही पास रखा और कुछ दिन बीत जाने पर उसका विवाह भी कर दिया। वर्षा काल वहीं पर व्यतीत करके पाण्डव जरत्कुमार को साथ लिये हुए निकले और चारों ओर पृथ्वी में घूमते हुए वहीं पहुँच गये, जहाँ श्रीकृष्ण को लिये बलभद्र रहा करते थे। बलदेव को श्रीकृष्ण के शव को लिये

हुए देखकर वे बहुत दुःखी हुए। वे सब उनके पास जाकर बैठ गये। उन्हें देखकर बलदेव ने समझा कि कोई बड़ी भारी सेना लेकर मुझसे लड़ने को आया है सो आप भी उनसे युद्ध करने को खड़े हो गये। पाण्डवों ने यह देख जान लिया कि अभी बलदेव अपने आपे में नहीं हैं, सो झट से दौड़कर वे उनके पावों में गिर पड़े। उन्होंने बलदेव को बहुत कुछ दिलासा दी और श्रीकृष्ण के शव का संस्कार करने को कहा। परन्तु बलदेव ने बिल्कुल ही हाँ न भरी। और उल्टे वे शव को उठाकर चल दिये। यह देखकर एक देव सारथी का वेष धारण कर उनके समझाने को आया। उसने जमीन पर कमल बोये और उन्हें जल से सींचने लगा, बर्तन में जल भर उसे मथने लगा, बालू रेत लेकर उसे पेलने लगा, और गाय के सिंगों को दोहने लगा। जब इतने पर भी बलदेव की बुद्धि ठिकाने पर न आयी, तब उसने पहले तो रथ को बड़े-बड़े विषम पर्वतों पर चढ़ाया और पीछे जमीन पर उतारकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले। यह देख बलदेव उसकी मूर्खता पर हँस पड़े और बोले तू बड़ा ही मूर्ख है। भला बता तो पहले तो रथ को बड़ी भारी कठिनता से पर्वत पर ले गया और पीछे उसे नीचे लाया। नीचे लाकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये; इससे तूने लाभ क्या उठाया? देव ने उत्तर में कहा—पहले अपनी ओर तो देखो, फिर मुझे मूर्ख कहना। जरा स्वयं भी तो विचार करो कि—जब श्रीकृष्ण युद्ध में मरे नहीं थे, तब तो उन्हें तुमने मरे हुए समझ लिये थे और अब जो वन में सोते हुए को जरत्कुमार ने शर से मार दिये, सो कहते हो कि अभी मरे नहीं हैं। तुम बड़े हो, इसलिए मूर्खता का काम करते हुए भी मूर्ख नहीं और मैं मूर्ख हो गया? क्या इसे ही बुद्धिमानी कहते हैं, जो अपना दोष तो न देखना और दूसरे के दोष देखकर झट से उसे

दोषी कहने लगना? यह सर्वथा अनुचित है। सुनते ही बलदेव की बुद्धि ठिकाने आयी। वे उसी वक्त श्रीकृष्ण के शव को पर्वत पर ले गये और उसका उन्होंने अग्निसंस्कार कर दिया। संसार की नश्वरी लीला देख उन्हें भी बहुत वैराग्य हुआ, सो उसी वक्त भगवान के पास जाकर उन्होंने जिनदीक्षा ग्रहण कर ली और वे कठिन से कठिन तपश्चरण करके स्वर्ग में देव हो गये। इधर पाण्डवों ने भी नेमिनाथ भगवान के समवसरण में जाकर उनके चरणकमलों के सामने जिनदीक्षा स्वीकार की।

भाइयों! विचार करो, यादवों ने केवल भ्रम से मदिरा पी थी, तब भी उनकी यह हालत हो गयी। फिर जो जान-बूझकर पीनेवाले हैं, उनकी क्या दशा होगी? शराब दिखने में भी बहुत बुरी है। इसके पीनेवालों की जो बुरी गति होती है, उसके जानते हुए भी यह नहीं छोड़ी जाती, इसका बड़ा खेद है। मदिरा पीनेवालों के लिये परलोक में नरक जाना बताया गया है। नरक में जो दु:ख भोगने पड़ते हैं, उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। मद्य पीने से तो दु:ख नियम से उठाने ही पड़ते हैं, परन्तु जो पुरुष मद्य पीनेवालों की संगति करते हैं, उन्हें भी दु:ख उठाने पड़ते हैं। शराब अपवित्र होती है, वस्तुओं के सड़ाने से बनती है, फिर भी उसे पीकर जो लोग अपने को पवित्र कहते हैं, यह आश्चर्य है। मदिरा पीने से लाभ कुछ नहीं होता। उससे बहुत से शारीरिक और मानसिक कष्ट सहने पड़ते हैं। मदिरापान से ही यादवों का सर्वनाश हुआ। द्वारका खाक में मिल गयी। यह प्रसिद्ध है। इसलिए सबों को मदिरा का पीना छोड़ देना चाहिए। आत्मा का भला बुरी बातों के छोड़ने से ही होता है।

मदिरा पीने से दोनों लोक बिगड़ते हैं। बहुत बड़े-बड़े कष्ट सहने पड़ते हैं। इसलिए कुलीन पुरुषों को कभी इसका स्पर्श भी न करना चाहिए। और सुनो, इन पापकर्मों से तुम्हारी रक्षा करनेवाला जिनधर्म है, उसका हृदय में आदर करो। यही धर्म संसार दु:खों का नाश करनेवाला और परम शान्ति का देनेवाला है।

सवैया

कृमिरास कुवास सरापद है, शुचिता सब छूवत जात सही।
जिस पान किये सुधि जाय हिये, जननी जन जानत नारि यही
मदिरा सम और निषिद्ध कहा, यह जानि भले कुल में न गही।
धिक है उनको वह जीभ जलो, जिन मूढ़न के मत लीन कही

(जैनशतक)

इति तृतीय परिच्छेद।

चौथी वेश्या गमन कथा

श्रेणिक ने गौतमगणधर को नमस्कार कर उनसे पूछा कि—स्वामी संसार में वेश्याओं के द्वारा किसने किस तरह के दु:ख भोगे हैं? गौतमगणधर ने कहा—तुम्हें चारुदत्त वैश्य का चरित्र कहा जाता है, क्योंकि वेश्या के द्वारा उसने बहुत दु:ख उठाये हैं।

अंग देश के अन्तर्गत चम्पा नाम की सुन्दर नगरी है। उसके राजा, विमलवाहन थे। वे धर्मकार्य का सम्पादन बड़ी ही चतुरता के साथ करते थे। उनके राज्य में एक सेठ रहता था। उसका नाम था भानुदत्त। भानुदत्त की स्त्री का नाम देविला था। देविला के खोटे कर्मों का बड़ा उदय था, जिससे उसे पुत्र का सौभाग्य प्राप्त न हो सका और उसी से वह सदा कुदेवों की पूजा किया करती थी। एक दिन कुदेवों की पूजा करते समय उसे किसी मुनि ने देख ली। मुनि ने देविला से पूछा—तू यह मिथ्यात्व किसलिए सेवन करती है? तू नहीं जानती कि मिथ्यात्व के सेवन से जीवों को घोर दु:ख उठाने पड़ते हैं। देविला मुनिराज से बोली—नाथ! मैं क्या करूँ? विवश हूँ। केवल पुत्र के न होने से ही यह मिथ्यात्व मुझे सेवन करना पड़ता है। मुनिराज ने फिर देविला से कहा—पुत्री, तू मिथ्यात्व को छोड़ और हृदय में यह विश्वास कर कि तुझे बहुत जल्दी पुत्ररत्न की प्राप्ति होगी। तू नहीं जानती कि कहीं कुदेवों की सेवा से भी लाभ हुआ है? किन्तु उससे उल्टा अपना सम्यक्त्व रत्न नष्ट हो जाता है। और जब कि जीवों के पास सम्यक्त्वरूपी रत्न ही नहीं है, जब यदि वे सुख की इच्छा करें तो इसे केवल मृगतृष्णा कहनी चाहिए। अर्थात् सुख का कारण सम्यक्त्व है, सो यदि तू सुख चाहती है तो शुद्ध सम्यक्त्व स्वीकार कर। मुनिराज

का सदुपदेश सुनकर देविला ने सम्यक्त्व स्वीकार कर लिया और उनके वचनों में विश्वास कर वह अपने घर पर चली गयी। वहाँ सुख से उसके दिन बीतने लगे।

कुछ दिन बीतने पर उसके गर्भ रहा। जब गर्भ पूर्ण महीने का हो चुका, तब देविला ने शुभ दिन और शुभ लग्न में पुत्र जना। सच है, जब पुण्यपुरुष पैदा होता है, तब सब ही शुभ हो जाते हैं। भानुदत्त को पुत्र के जन्म की बहुत खुशी हुई। उसने बहुत उत्सव के साथ पुत्र का जन्म महोत्सव किया, गरीबों को दान दिया और अपने बन्धुओं का वस्त्र आभरणादि से उचित आदर किया।

बालक दिनों दिन बढ़ने लगा। धीरे-धीरे जब बाल्यावस्था पूर्ण हुई, तब उसे पिता ने उपाध्याय के पास पढ़ने को भेज दिया। उपाध्याय ने पहले ही उसे अक्षराभ्यास करवाया। अक्षराभ्यास बालक ने बहुत जल्दी कर लिया। ठीक ही है, उत्तम बुद्धि के धारक पुरुषों के लिये संसार में कोई बात कठिन नहीं हुआ करती। चारुदत्त ने थोड़े ही दिनों में सब शास्त्र पढ़ लिये। इस समय उसकी हरिसख, गौमुख वराह, परंतप तथा मरुभूमि से मित्रता हो गयी थी। वह इन्हीं के साथ-साथ पढ़ा करता था।

चम्पा के बाहिर एक मन्दिर नाम का पर्वत है। उस पर श्रीयमधर मुनि मोक्ष गये थे। इसलिए वह सिद्धक्षेत्र गिना जाता था। यहाँ पर प्रतिवर्ष अगहन के महीने में यात्रा भरा करती थी। एक वक्त चम्पा के महाराज विमलवाहन भी यात्रा के लिये चले। उनके साथ बहुत से मनुष्य थे। उनमें चारुदत्त भी अपने मित्रों के साथ मुनि की वन्दना करने को गया। महाराज और सभी लोगों ने चारुदत्त को अपने साथ आया हुआ समझकर विचारा कि—यह

अभी बच्चा है, इसलिए इतने ऊँचे पर्वत पर नहीं चढ़ सकेगा सो उन्होंने पर्वत के नीचे ही ठहरने को कह दिया और आप सब आगे को बढ़े।

चारुदत्त कुछ देर तक तो वहाँ ठहरा और जब देखा कि सब लोग चले गये हैं, तब आप भी अपने मित्रों को साथ लेकर नदी के किनारे के बगीचे में खेलने को चल दिया। चारुदत्त वहाँ खेल रहा था कि इतने में उसके कानों में कहीं से रोने की आवाज सुन पड़ी। जिधर से रोने की आवाज आ रही थी, वह उधर ही चला। थोड़ी दूर जाकर देखता है तो कदम्ब के वृक्ष की डाली में एक पुरुष कीलित होकर बँधा हुआ है और उसकी दृष्टि एक ढाल पर लगी हुई है। यह देख चारुदत्त ढाल के पास गया और उसे उसने उठाई तो उसके नीचे तीन गुटिका रखी हुई उसे मिलीं। उन्हें लेकर चारुदत्त उस कीलित पुरुष के पास गया। गुटिकाओं में एक गुटिका कीलोत्पाटन नाम की थी। चारुदत्त ने उस गुटिका को उस पुरुष के लिये दे दी। उसके प्रभाव से वह उसी वक्त बन्धनरहित हो गया। संजीवनी गुटिका से उसकी मूर्च्छा जाती रही और ब्रणसंरोहिणी गुटिका से उसके शरीर में जो घाव हो गये थे, वे सब अच्छे हो गये।

कीलित पुरुष ने अपनी अच्छी हालत देखकर हाथ में तलवार ढाल ली और वह वहाँ से उसी वक्त चल दिया और थोड़ी ही देर में एक पुरुष को बाँधकर वहाँ ले आया। इस वक्त उसके साथ एक स्त्री थी थी। वह चारुदत्त के पावों में गिरकर बोला कि—स्वामी! मुझे कुछ प्रार्थना करनी है, उसे आप सुन लें, तो बड़ी कृपा हो। चारुदत्त ने उससे अपनी कथा कहने को कह दिया। वह कहने लगा कि—

विजयार्द्धपर्वत की उत्तरश्रेणी में शिवमन्दिर नामक एक सुन्दर, विद्याधरों के रहने का शहर है। उसके राजा का नाम महेन्द्रविक्रम है और उनकी रानी का नाम है मत्सिका। उनका मैं एक पुत्र हूँ। मेरा नाम है अमितगति। मेरे मित्रों का नाम धूम्रसिंह और अरिमुण्ड है। मैं एक दिन मित्रों के साथ खेलता हुआ ह्रीमान नाम के पर्वत पर चला गया। उस पर एक हिरण्यरोम नाम का साधु रहता था। उसका जन्म क्षत्रीकुल में हुआ था। साधु की एक परम सुन्दरी कन्या थी। कन्या का नाम था सुकुमालिका। उसके सौन्दर्य पर आसक्त होकर मैंने उसके पिता से प्रार्थना की कि—इस सुन्दरी का विवाह आप मेरे साथ कर दें, तो बहुत उत्तम हो। उसके पिता ने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर उसका विवाह मेरे साथ कर दिया। कन्या को देखकर धूम्रसिंह का भी मन डिग गया। उसके हर ले जाने की उसने बहुत कुछ कोशिश की परन्तु मेरे डरने उसे कृत्यकार्य न होने दिया। आज मैं अपनी स्त्री को साथ लेकर यहीं पर क्रीड़ा करने को आया था। मैं तो अपने आनन्द में निमग्न था, कि इतने में इस पापी कपटी मित्र ने मुझे तो कील दिया और मेरी स्त्री को यह लेकर रवाना हुआ। यह दुष्ट अब आपके सामने उपस्थित है। आप उचित समझें सो करें, मैं तो आज आप ही की कृपा से छूटने पाया हूँ। नहीं तो न मालूम मेरी क्या हालत होती। आज से लेकर मैं अब आप ही का होकर जीता रहूँगा। मैं आपका दास हूँ। मेरे लिये आज्ञा कीजिए कि मैं आपको क्या सेवा करूँ? उसकी यह हालत देख चारुदत्त ने कहा—तुम ऐसा न समझो। हम तुम एक धर्म के पालक हैं। तुम्हारा हमारा समानधर्मीपना है। इसलिए तुम मेरे भाई हो। तुम आनन्दपूर्वक रहो, यही मेरा कहना है।

चारुदत्त ने फिर दोनों को समझाकर उनकी खूब मित्रता करवा

दी। यह देखकर दोनों को बहुत खुशी हुई। दोनों ने चारुदत्त का खूब सम्मान किया और उसके गुणों का यशोगान करते हुए वे दोनों ही अपने-अपने घर पर चले गये। इनके चले जाने पर चारुदत्त भी अपने मित्रों को साथ लेकर घर चला गया और फिर पहले की तरह पढ़ने में लग गया। पढ़ना उसका एक तरह का व्यसन सा हो गया था। इसलिए उसे सदा पढ़ने के सिवाय कुछ सूझता ही न था।

चम्पानगरी में ही एक और सिद्धार्थ नामक सेठ रहता था। उसके सुमित्रा नाम की स्त्री थी। इनके एक सुन्दर कन्या थी। उसका नाम था मित्रावती। सिद्धार्थ ने मित्रावती का विवाह चारुदत्त के साथ कर दिया। चारुदत्त ने गृहस्थाश्रम में यद्यपि पदार्पण किया परन्तु तब भी उसे पढ़ने का इतना व्यसन था कि वह दिन-रात पढ़ने के सिवाय अपना समय किसी दूसरे कामों में न लगाता था। एक दिन उसकी स्त्री अपनी माता के यहाँ आयी। माता ने उसे अलंकारादि से सुसज्जित देखकर पूछा। प्यारी पुत्री! कारण क्या है जो ये भूषणादि कल शाम को जैसे तेरे शरीर पर सजे हुए थे, वैसे ही अब भी सजे हुए हैं और चन्दन भी वैसा ही लगा हुआ दिख पड़ता है। इनका तो सूरत समय में नियम से व्यतिक्रम हो जाना चाहिए। तुझ पर तेरा प्राणप्यारा कुपित तो नहीं है? सुनकर मित्रावती ने उदासीनता के साथ माता से कहा—माता! तुम प्राणप्यारे का मुझ पर कुपित होना समझती हो, परन्तु यह बात नहीं है। उनका सब समय पढ़ने ही में जाता है, इसी से उनका मेरा सम्बन्ध होने नहीं पाता। अस्तु हो, इसकी मुझे कुछ चिन्ता नहीं। पुत्री के वचन सुनकर सुमित्रा को क्रोध आया। वह उसी वक्त चारुदत्त की माता के पास गयी और उससे बोली कि—तेरा पुत्र पढ़ा तो बहुत है, परन्तु मेरी दृष्टि में तो वह अभी भी नीरा मूर्ख ही है जो विवाह हो जाने पर भी स्त्रियों के

सम्बन्ध की बात तक नहीं जानता जिन पर कि सारे संसार की स्थिति निर्भर है। यदि इसे इसी तरह दिन-रात पढ़ाना ही तुझे इष्ट था तो किसलिए तूने मेरी पुत्री का विवाह इसके साथ करके उसे कुँए में ढकेली। जबकि उसका विवाह हो गया है, तब तो उसे अब पढ़ना छोड़ देना चाहिए। चारुदत्त की माता ने सुमित्रा को किसी तरह समझा-बुझाकर अपने घर पर भेज दी और आप अपने देवर के पास जाकर उससे कहने लगी कि—रुद्रदत्त, देखो चारुदत्त का विवाह भी हो गया परन्तु वह अभी तक यह भी नहीं जानता कि—भोग-विलासादि क्या चीज है? इसलिए कोई ऐसा उपाय करना उचित है जो यह सब बातें जानकर वह भोगविलास की ओर झुक जाये। सुनकर रुद्रदत्त ने कहा—तुम इसकी चिन्ता न करो। मैं बहुत जल्दी इस बात का उपाय करता हूँ। यह कहकर रुद्रदत्त वहाँ से चल दिया।

इसी चम्पापुरी में एक गणिका रहा करती थी। उसका नाम था वसन्ततिलका। उसके यहाँ एक परम सुन्दरी और सब प्रकार की कलाओं में सुचतुर वसन्तसेना वेश्या है। रुद्रदत्त अपने घर से निकलकर उसी के यहाँ गया और उससे बोला कि—मेरे बड़े भाई का एक पुत्र है। उसका नाम है चारुदत्त। वह बहुत ही सुन्दर तथा सब कलाओं का पारगामी है परन्तु दु:ख इस बात का है कि वह कामक्रीड़ा से निरा अनभिज्ञ है। इसलिए तुम उसे अपनी सुन्दरता पर लुभाकर कुछ कामक्रीड़ा करना सिखाना। तुम्हें इसका उचित पारितोषिक मिलेगा। इतना कहकर रुद्रदत्त अपने घर पर चला गया।

रुद्रदत्त ने महाराज विमलवाहन के पास जाकर उनसे भी चारुदत्त की ये सब बातें कह सुनाई थी। उसके कहे अनुसार महाराज ने अपने महावत से यह कह दिया था कि जब रुद्रदत्त चारुदत्त को

लेकर बाजार में घूमने को आवे, तब तुम वसन्तसेना के घर के सामने दो हाथियों को आपस में लड़ा देना। लड़ाई के सबबसे रास्ता न मिलने पर चारुदत्त को जबरन उसके घर का आश्रय लेना पड़ेगा। तब सहज ही में हमारा काम सिद्ध हो जायेगा।

रुद्रदत्त चारुदत्त को अपने साथ लेकर शहर में घूमने को निकला। वे दोनों वसन्तसेना के घर के पास पहुँचे ही थे कि इतने ही में दो हाथी लड़ते हुए वहीं आ गये। उनकी लड़ाई से रास्ता बन्द हो गया। यह देख रुद्रदत्त झट से चारुदत्त का हाथ पकड़कर उसे वसन्तसेना के मकान में लिवा ले गया। और चारुदत्त से यह कहकर कि जब तक हाथियों की लड़ाई बन्द न हो हो, तब तक यहीं ठहरते हैं, ठहर गया। और समय बिताने के बहाने से वसन्ततिलका के साथ जुआ खेलने लगा। खेल में रुद्रदत्त कई बार हार गया। इससे चारुदत्त यह विचार कर कि हमारा काका ही क्यों हर वक्त हार रहा है? स्वयं खेलने लगा। खेलते-खेलते वसन्ततिलका चारुदत्त से कहने लगी—हे सेठ के पुत्र, देखो मैं तो अब वृद्धा हो चुकी हूँ और तुम अभी युवा हो। इसलिए मेरे साथ तुम्हारा खेलना उचित नहीं जान पड़ता। मेरी एक परम सुन्दरी वसन्तसेना नाम की पुत्री है। उसके साथ तुम्हारा खेलना अच्छा शोभता है। सो अब तुम उसी के साथ खेलना। मैं उसे अभी बुलाये देती हूँ। उत्तर में चारुदत्त बोला—जैसा तुम उचित समझो, मुझे कुछ इन्कार नहीं है। वसन्तसेना बुलवाई गयी। चारुदत्त उसी के साथ खेलने लगा। खेलते-खेलते बहुत देर हो गयी। इतने में चारुदत्त को प्यास लग गयी। उसने वसन्तसेना से जल लाने को कहा। वसन्तसेना पहले ही समझाई जा चुकी थी, सो वह जल में कुछ नशे की वस्तु मिलाकर ले आयी और उसे उसने चारुदत्त को

पिला दिया। जल पीने के कुछ ही देर बाद चारुदत्त काम से पीड़ित हुआ। उसने अपने काका से घर पर चले जाने के लिये कहा। उसके वहाँ से चले जाने पर आप वसन्तसेना को मकान की ऊपरी छत पर ले जाकर उसके साब सुरतसुख का अनुभव करने लगा। ज्यों-ज्यों वह विषय सेवन करता गया, त्यों-त्यों उसकी लालसा इतनी बढ़ती गयी कि लगातार इसे वेश्या के घर रहते हुए छह वर्ष बीत गये। वेश्या को इसने अपना बहुत सा धन भी दे डाला। जब उसके पिता को यह बात मालूम हुई कि पुत्र न तो अभी घर पर आया है और न उसकी आने की ही इच्छा है। उसने धन भी बहुत कुछ नष्ट कर डाला है। तब तो उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने अपने नौकरों को चारुदत्त के बुलाने को भेजे, परन्तु चारुदत्त ने आने से साफ इन्कार कर दिया। अबकी बार उसके पिता ने यह कहला भेजा कि जाकर चारुदत्त को कह दो कि तुम्हारे पिता बहुत बीमार हैं, उनकी सम्हाल करनेवाला भी कोई नहीं है, सो तुम्हें चलना चाहिए। उसके भी उत्तर में चारुदत्त ने यह कह दिया कि उनके आराम कराने के लिये अच्छे-अच्छे विद्वान वैद्य बुलवाये जायें और उनकी इच्छानुसार धन देकर पिताजी के रोग का इलाज करवाया जाये। अन्त में उसके पिता ने देखा कि, अब वह व्यसन में बहुत गर्क हो गया है, इसका छुटकारा होना सहज नहीं जान पड़ता। तब एक बार और उसके पास आदमी भेजे और उनके द्वारा यह कहलवाया कि तेरे पिता की जीवनलीला समाप्त हो चुकी है, अब उनकी अन्तिम क्रिया तो कर आ इस पर भी चारुदत्त के कानों पर जूं न रेंगी किन्तु और उल्टा कह दिया कि हमारे घर के लोगों से जाकर यह कह दो कि पिताजी के शव का चन्दनादि सुगन्धित वस्तुओं से वह्निसंस्कार किया जाये। पुत्र की यह हालत देखकर

उसके पिता ने सोचा कि यह तो दुर्व्यसन की पराकाष्ठा पर पहुँच चुका है। अब इसका छुटकारा होगा यह असम्भव है। अस्तु, जैसा जिसका कर्म है, उसी के अनुसार उसका भविष्य भी होगा। फिर मैं ही अपने कर्तव्य कर्म से क्यों चूकूँ। यह विचारकर चारुदत्त के पिता ने दु:खों की नाश करनेवाली जिनदीक्षा ग्रहण कर ली।

उधर चारुदत्त की हालत दिनों-दिन अधिक-अधिक बुरी होने लगी। बहुत सा धन तो उसने पहले ही बर्वाद कर दिया था, कुछ थोड़ा बहुत और बचा था सो उसे भी जल्दी नष्ट कर डाला और जब पैसा पास न रहा तब अपना मकान भी गिरवी रख दिया। गर्ज यह कि उसका सब धन नष्ट हो चुका। उसकी माता एक अच्छे धनवान की गृहिणी होकर भी आज वह दरिद्रा है। अहा! कर्म का परिपाक बड़ा विचित्र होता है। कौन जानता था कि इसकी यह हालत हो जायेगी और इसे पैसे-पैसे के लिये तरसना होगा। भाईयों, वेश्या के सेवन से जो पराकाष्ठा की बुरी दशा होती है, उसका चारुदत्त बहुत उत्तम उदाहरण है। इसे देखकर क्या आप अपने सुधार की इच्छा न करेंगे?

जब चारुदत्त के घर की गरीबी हालत वसन्ततिलका को मालूम हुई तब उसने अपनी पुत्री को एकान्त में बुलाकर उससे कहा कि— पुत्री! अब चारुदत्त बिल्कुल दरिद्री हो चुका है। इसलिए अब इससे प्रीति छोड़कर किसी दूसरे धनिक युवा के साथ प्रेम करना तुझे उचित है। क्योंकि वेश्याओं का यही कर्तव्य है, कि वे कामदेव की तरह सुन्दर होने पर भी निर्धन पुरुष से अपना प्रेम करना छोड़ दें। अभी तू बच्ची है। शायद यह बात तुझे मालूम न हो, इसलिए मैंने तेरा कर्तव्य तुझे सुझा दिया है। इसे तू पालन कर। संसार में यह बात

सभी जानते हैं कि वेश्यायें निर्धन के साथ प्रेम नहीं करतीं। वसन्तसेना अपनी माता का कहना सुनकर बोली कि माता, यद्यपि तुम ठीक कहती हो, परन्तु मुझसे तो यह अनर्थ न हो सकेगा। इस जीवन में तो यही दरिद्री मेरा स्वामी है। इसे छोड़कर दूसरे को मैं कभी नहीं चाहूँगी, यह मेरा दृढ़ संकल्प है। वसन्तसेना अपनी माता की बुरी नियत का पता पा गयी, सो अब वह सदा चारुदत्त के ही पास रहने लगी। एक मिनिट के लिये भी वह उसे छोड़ना नहीं चाहती थी।

एक दिन की बात है कि चारुदत्त और वसन्तसेना को पापिनी वसन्ततिलका ने भोजन कराते वक्त अधिक निद्रा आनेवाली वस्तु खिला दी। भोजन खाकर वे दोनों सो गये। उन्हें निद्रा ने जोर से धर दबाया। निद्रा के पराधीन देखकर उसने चारुदत्त के सब वस्त्राभूषण तो उतार लिये और उसे एक कपड़े की गठड़ी में बाँधकर पाखाने में डाल दिया। जब प्रात:काल हुआ, तब कुत्ते आकर उसका मुख चाटने लगे। चारुदत्त नशे में ही बोलता है कि—प्यारी बसन्तसेने! मुझे इस वक्त नींद अधिक सता रही है, तुम जाओ और मुझे सोने दो। इस समय यहीं पर एक पुलिस का कर्मचारी खड़ा हुआ था। उसने यह देखकर पाखाने में से उसे बाहिर निकाला और उससे पूछा कि तू कौन है? और इस पाखाने में कैसे गिर पड़ा है? यह सुनकर चारुदत्त की कुछ अकल ठिकाने हुई। उसे जब यह जान पड़ा कि यह सब वसन्ततिलका की करतूत है और उसी पापिनी ने मुझे पाखाने में डाला है, तब उसे बड़ी घृणा आयी। आप पर जो-जो आपत्तियाँ बीती थीं, वे सब उस कर्मचारी से उसने कह सुनाई। सुनकर वह चला गया। इधर चारुदत्त भी वहाँ से चलकर अपने घर पर गया। परन्तु द्वारपालों ने उसे घर में न घुसने दिया। यह

देख चारुदत्त ने उन लोगों से कहा—तुम मुझे भीतर क्यों नहीं जाने देते हो? यह तो मेरा घर है। उत्तर में नौकरों ने कहा—चारुदत्त! यद्यपि यह घर तेरा ही है, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु इस वक्त तो यह हमारे मालिक के यहाँ गिरवी रखा हुआ है। इसलिए इस पर अब तेरा अधिकार नहीं रहा। चारुदत्त ने पूछा—खैर! क्या तुम यह जानते हो कि मेरी गरीब माता अब कहाँ रहती है? और मेरी स्त्री की क्या दशा है? यह सुन नौकरों ने उसकी माता के रहने की झोपड़ी उसे बता दी। चारुदत्त माता के पास गया और उससे मिला। अपने प्यारे पुत्र की यह दशा देखकर माता को जो दु:ख हुआ, वह लिखा नहीं जा सकता—यही हालत अपने प्राणप्यारे को देखकर उसकी स्त्री की भी थी। माता ने पुत्र को गले लगाया और स्नान कराकर उसके शरीर को शुद्ध किया। चारुदत्त ने अपनी सब कथा माता को सुना दी। सुनकर माता बहुत खेदित हुई। सच है, जैसा स्नेह पुत्र पर माता का होता है, वैसा किसी का नहीं होता। इसके बाद चारुदत्त ने भोजन कर माता से कहा—माता! हम लोग इस समय बड़ी बुरी हालत में हैं। इसलिए मेरी इच्छा है कि मैं विदेश जाकर धन के कमाने का उपाय करूँ। इस दरिद्र दशा में मेरे द्वारा न तुम्हें ही कुछ सुख हो सकता है और न मुझे। इसलिए तुम मुझे जाने की आज्ञा दो। जब चारुदत्त के विदेश जाने का हाल उसके मामा ने सुना, तो वह—उसी वक्त वहाँ आया और चारुदत्त से बोला—सुनो, तुम्हारी इच्छा व्यापार करने की है, यह बहुत अच्छी बात है। तुम मेरे घर चलो। मेरे पास बहुत धन है। उससे अपनी इच्छानुसार व्यापार करना। चारुदत्त ने उत्तर में कहा—मामाजी! आपका कहना बहुत अच्छा है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु मेरी इच्छा अब यहाँ रहने की नहीं है। मैं तो विदेश जाकर ही व्यापार

करूँगा। चारुदत्त के मामा ने फिर उससे अधिक आग्रह नहीं किया। इसके बाद चारुदत्त अपनी माता और स्त्री को समझाकर घर से बाहर निकला। चारुदत्त का मामा भी प्रेम के वश हो उसके पीछे-पीछे हो लिया। कुछ दिनों के बाद वे दोनों एक नदी के किनारे पर पहुँचे। वहाँ से वे अपने मस्तक पर गाजर की गठड़ियाँ लादकर पलाश नगर में पहुँचे और वहाँ वृषभदत्त की दुकान पर बैठकर गाजर बेचने लगे। गाजर के व्यापार में इन्हें कुछ लाभ हुआ। उसके द्वारा कपास खरीदकर वे बैल लादने लगे। इन्हीं दिनों में इनकी एक विनजारे से मित्रता हो गयी। उसकी मार्फत व्यापार कर इन्होंने बहुत धन कमाया। परन्तु अशुभ कर्म ने अभी इनका पीछा न छोड़ा। मार्ग में बेचारों को भीलों ने लूट लिये। और आग के लग जाने से कपास भी जल गया। बेचारे फिर भी दरिद्री के दरिद्री हो गये।

वहाँ से फिर वे दोनों मलय पर्वत पर बसे हुए शहर में गये। वहाँ पर उनके भाग्य का सितारा चमका। उन्होंने वहाँ रहकर बहुत रत्न और धन उपार्जन किया। दैव की कुटिलता से अबकी भी उन्हें लुटेरों ने लूट लिये। वहाँ से भी वे चले और कुछ दिनों के बाद प्रियंगु शहर में पहुँचे। यहाँ चारुदत्त के पिता का एक पुराना मित्र रहता था। उसका नाम था सुरेन्द्रदत्त। सुरेन्द्रदत्त अपने मित्र के पुत्र की सहायता करने के आशय से उन्हें और दूर देश ले गया जहाँ व्यापार की अच्छी उन्नति थी। उन्होंने वहीं बारह वर्ष तक ठहरकर बहुत सा धन कमा लिया। अन्त में जब धन जहाज पर लादकर वे अपने देश की ओर लौटे कर्मयोग से अबकी बार भी जहाज टूटकर जल में डूब गया। इन्होंने किसी लकड़े के टुकड़े को पाकर बड़ी ही मुश्किल से समुद्र के बाहर होकर अपने प्राणों की

रक्षा की। अब न तो सिद्धार्थ को यह पता है कि चारुदत्त किधर गया और न चारुदत्त अपने मामा सिद्धार्थ का हाल जानता है। सिद्धार्थ चारुदत्त का शोध लगाता हुआ धीरे-धीरे अपने शहर में आ पहुँचा। परन्तु वहाँ भी उसे चारुदत्त का हाल नहीं मिला।

उधर चारुदत्त समुद्र से बाहर होकर जब वहाँ से रवाना हुआ, तब उसे उदम्बरवती नगरी में आकर अपने मामा का हाल मिला। चारुदत्त को सन्तोष हुआ। यहाँ से चारुदत्त रवाना होकर सिन्ध देश के अन्तर्गत सम्वरी नामक गाँव में आया। यहाँ पर किसी के यहाँ उसके पिता का बहुत सा धन अमानत रखा हुआ था। चारुदत्त ने पिता का धन मन्दिरों का जीर्णोद्धार और दान आदि पुण्यकर्म में लगाना आरम्भ किया। इससे उसकी कीर्ति सब जगह विस्तृत हो गयी। यह देख उसकी परीक्षा करने को एक देव मनुष्य का वेष धारणकर जिनमन्दिर में आया। उसके कुछ देर बाद चारुदत्त भी जब भगवान की पूजन करने को आया तब एक मनुष्य को वहाँ रोता हुआ देखकर उसने उससे पूछा—भाई! तुम किसलिए रो रहे हो? क्या किसी रोग से तो तुम पीड़ित नहीं हो? उत्तर में वह कपटवेषी मनुष्य बोला—महापुरुष! आपसे कुछ प्रार्थना करनी है। उसे आप सुन लें, तो बड़ी कृपा हो। वह यह कि—मेरे शरीर में शूलरोग की बड़ी वेदना हो रही है और वैद्य ने उसका इलाज मनुष्य का माँस बताया है। दान देने में आपकी कीर्ति बहुत फैल रही है। यही सोच समझकर मुझे आपके पास आना पड़ा है। आप जीवों के बड़े उपकार करनेवाले हैं। इसलिए मुझ पर भी दया करके अपने शरीर का माँस मुझे दान करें तो आपका बड़ा अनुग्रह हो। तभी मैं मरने से बच सकता हूँ। नहीं तो मेरा जीना बड़ा ही मुश्किल है। माँस की सुलभता न होने से ही रो रहा हूँ।

उसका कहना सुनकर चारुदत्त ने उससे कहा—भाई! यदि यह बात ठीक है और वास्तव में मनुष्य के माँस से तुम्हारी वेदना मिट सकती हे तो मैं अपने शरीर का माँस तुम्हें देने को तैयार हूँ। इतना कहकर चारुदत्त ने छुरी से अपने पार्श्व भाग (पसवाड़े) का माँस काटकर उसे दे दिया। कपटी देव चारुदत्त की इस अलौकिक धीरता और उपकार बुद्धि को देखकर चकित हो गया। उसी समय अपना प्रत्यक्ष परिचय देकर वह चारुदत्त की स्तुति करने लगा और उसके गुणों की प्रशंसा करके अपने स्थान पर चला गया। इधर चारुदत्त भी अपने पास के सब धन को दानादि उत्तम कर्मों में लगाकर राजगृह की ओर चल दिया। वहाँ उसे एक दण्डी साधु मिला। साधु के पूछने पर चारुदत्त ने अपनी आदि से अन्त तक सारी कथा कह सुनाई। दण्डी ने उसकी हालत सुनकर ऊपर से दु:ख प्रकाशित करके उससे कहा—तुम किसी तरह की चिन्ता न करो। मेरे साथ पीछे-पीछे चले आओ। यहाँ से थोड़ी दूर पर एक रसकूपिका है। उससे मनुष्यों को उनकी इच्छा के अनुसार धन मिल सकता है। चारुदत्त लोभ के वश होकर दण्डी के पीछे-पीछे रसकूपिका के पास पहुँच गया। दण्डी ने एक खाट पर चारुदत्त को बैठाकर और उसके हाथ में एक तुम्बी देकर कह दिया कि जब तुम भीतर पहुँच चुको, तब उसमें रस भरकर उसे खाट पर रख देना। पहले रसतुम्बी को रस्सी से बाहिर निकालकर पीछे तुम्हारे निकालने के लिये खाट को कूपिका में उतार दूँगा सो तुम उस पर बैठ जाना। फिर मैं तुम्हें जल्दी बाहिर निकाल दूँगा। चारुदत्त उसकी कपटवृत्ति न समझकर बोला—महाराज! जैसा आप कहते हैं, मैं भी वैसा ही करूँगा। इतना कहकर चारुदत्त खाट के ऊपर बैठ गया। दण्डी साधु ने उसे तुम्बी देकर कुँए के भीतर उतार दिया। नीचे पहुँचकर

ज्यों ही रस भरने को चारुदत्त ने तुम्बी को आगे बढ़ाई कि इतने में एक मनुष्य ने (जो पहले ही से कुँए के भीतर बैठा हुआ था) कहा कि क्या तू भी उसी नीच दण्डी साधु के जाल में फँस गया है? जान पड़ता है, उसी ने तुझे भी इसमें उतारा है। मुझे भी उसी पापी ने रस का लोभ दिखलाकर इस कुँए में उतार दिया है। चारुदत्त ने उसकी यह हालत देखकर पूछा—तुम कौन हो? और क्यों इसमें डाले गये हो? वह बोला—मित्र! जो कुछ मुझ पर बीती है, उसे तुम यदि सुनना चाहते हो तो सुनो–मुझे उसके सुनाने से कुछ इन्कार नहीं है। वह यों है—

मैं उज्जयिनी में रहता हूँ और जाति का वैश्य हूँ। जब कर्मों की विचित्रता से मुझे दरिद्रता ने आ घेरा, तब मैं इधर–उधर घूमने लगा। घूमते हुए मुझे इन साधु महाराज के दर्शन हो गये। ये धन का लोभ दिखाकर मुझे यहाँ लिवा लाये। इनके कहने से मुझे इस कुँए में उतरना पड़ा। जब मैं नीचे पहुँच गया, तब तुम्बी में रसभर उसे साधु के कहे अनुसार मैंने खाट पर रख दी। साधु महाराज ने पहले तुम्बी को झट से बाहर निकाल ली और बाद मेरे निकालने के लिये खाट को कुँए के भीतर उतारी। मैं खाट पर बैठ गया। जब खाट आधी दूर आ चुकी, तब उसकी रस्सी काट दी। मैं धाम से कुँए में गिर पड़ा। परन्तु दैव की विचित्रता से किसी तरह बचकर यहाँ बैठा हुआ हूँ। यही कारण मेरे यहाँ आने का है। अपना हाल कहने के बाद उसने चारुदत्त से उसके आने का हाल पूछा। चारुदत्त ने सब बातें ठीक–ठीक कह दीं। इसके बाद चारुदत्त ने उससे यह और पूछा कि—अब तुम यह बताओ कि मुझे क्या कर्तव्य है? उत्तर में उसने कहा—मित्र! तुम यह करो कि पहले तो तुम्बी को भरकर खाट पर रख दो। जब वह पापी इसे निकालकर

खाट को तुम्हारे निकालने के लिये भीतर उतारेगा, तब उस पर तुम एक पत्थर रख देना। पत्थर के वजन को वह तुम्हारा वजन समझकर रस्सी काटकर चल देगा। ऐसा करने से तुम अपने को बचा सकोगे। यही हुआ भी—दूसरी बार पत्थर रखी हुई खाट की रस्सी काटकर वह पापी चल दिया। उसके चले जाने पर चारुदत्त ने उससे फिर कहा—क्या कोई ऐसा उपाय है, जिसके द्वारा मैं इसके बाहर हो सकूँ? वह बोला—मध्याह्न काल में इसका रस पीने को एक गोह आया करती है, सो जब वह आवे तब तुम उसकी पूँछ पकड़कर बाहर निकलने की कोशिश करना। आगे तुम्हारा भाग्य है। इसे छोड़कर और उपाय मुझे सूझ नहीं पड़ता। इतना कहकर वह चारुदत्त से कहने लगा कि मित्र—मुझे इस समय बड़ी भारी वेदना हो रही है। मैं मरा ही चाहता हूँ। यदि हो सके, तो मुझे कल्याण का उपदेश सुनाओ। चारुदत्त ने उसकी यह दशा देखकर उसे नमस्कार मन्त्र सुनाया। सुनते-सुनते शुद्ध परिणामों के साथ उसने प्राण विसर्जन कर दिये। महामन्त्र के प्रभाव से उसे स्वर्ग में देवपद मिला।

उधर जब मध्याह्नकाल का समय आया, तब प्रतिदिन के अनुसार एक गोह उस कूपिका का रस पीने को आयी और रस पीकर जब वह पीछे लौटने लगी, तब उसकी पूँछ को चारुदत्त ने पकड़ लिया। गोह के साथ-साथ चारुदत्त भी ऊपर को चढ़ने लगा। चढ़ते-चढ़ते केवल एक ही हाथ और ऊपर चढ़ने में बाकी रह गया था कि गोह अपना बिल आ जाने से उसमें घुस गयी और चारुदत्त उसकी पूँछ पकड़े वही ठहर गया। इसी समय कुछ बकरियाँ चरतीं-चरतीं कुँए के किनारे पर होकर जा रही थीं कि इतने में एक बकरी का पाँव फिसलकर बिल के ऊपर जा पड़ा। यह देख

चारुदत्त ने उसका पाँव बड़े जोर से पकड़ लिया। बकरी मैं-मैं कहने लगी। उसका मिमयाना सुनकर बकरियों का मालिक दौड़ आया। बकरी का पाँव बिल में फँसा हुआ देखकर उसने वहाँ की जमीन खोदनी आरम्भ की। यह देख चारुदत्त बोला-भाई! जरा धीरे-धीरे खोदना। उसने धीरे से खोदकर चारुदत्त को बाहर निकाल दिया। बाहर निकलते ही चारुदत्त जी लेकर भागा। चारुदत्त का ऐसा करना उसे बड़ा ही आश्चर्यकारक जान पड़ा। परन्तु फिर वह अधिक हाल जानने की कोशिश न करके अपने घर चला गया।

चारुदत्त निकलकर वहाँ से भागा ही था कि एक भैंसे ने उसका पीछा किया। उसके पीछे-पीछे आने से चारुदत्त बहुत कुछ घबराया। रास्ते में चारुदत्त को एक गिरि-गुहा दीख पड़ी। वह उसमें घुसा ही चाहता था कि उसके द्वार पर ही एक बड़ा भारी भयंकर अजगर उसकी दृष्टि में आया। परन्तु भैंसे के भय के मारे वह कुछ विचार न कर अजगर के मस्तक पर पाँव देकर गुहा के भीतर जा घुसा। अपने सिर पर वजन के पड़ने से अजगर जाग गया। जागते ही उसकी दृष्टि गुहा के द्वार पर खड़े हुए भैंसे पर पड़ी। अजगर ने उसकी बलि करनी चाही कि भैंसा भी बिगड़ खड़ा हुआ। दोनों में कुछ धींगा-धींगी होने लगी। इतने में मौका देखकर चारुदत्त गुहा से भाग निकला। वहाँ से निकल जाने पर भी बेचारे को आपित्त से छुट्टी नहीं मिली। गुहा से निकलते ही काल की तरह उसके पीछे दो भैंसे और हो लिये। उनके भय से वह एक ऊँचे वृक्ष पर चढ़ गया। जब वे भैंसे निरुपाय होकर लौट गये, तब चारुदत्त भी वृक्ष पर से उतरकर एक नदी के किनारे पर आया। वहाँ पर इसे हरिसिख आदि इसके मित्र भी मिल गये जो इसको ढूँढ़ने

के लिये इधर-उधर घूम रहे थे। चारुदत्त इन्हें देखकर बहुत खुश हुआ और प्रेमपूर्वक सबसे गले लगकर मिला। इसके बाद वहीं पर सबने एक ही साथ बैठकर भोजन किया और भोजन किये बाद वे अपने-अपने सुख-दुःख की कहानी परस्पर में एक से एक कहने लगे। वह दिन सबका बड़े आनन्द के साथ बीता।

दूसरे दिन वे सब मित्र वहाँ से श्रीपुर की ओर रवाना हुए। श्रीपुर में चारुदत्त के पिता का मित्र रहा करता था। उसका नाम था प्रियदत्त। उसने चारुदत्त को अपने मित्र का पुत्र समझकर उसका बहुत कुछ सत्कार किया और वहाँ से चलते समय उनके साथ बहुत सी भोजन-सामग्री रख दी, जिससे उन्हें खाने-पीने की तकलीफ न उठानी पड़े। चारुदत्त वगैरह ने उनके पास जो धन था, उसके द्वारा श्रीपुर से काँच की चूड़ियाँ खरीद की और उन्हें गान्धार देश में ले जाकर बेची। यह देख एक मनुष्य ने उनसे पूछा कि— तुम कौन हो? और किसलिए तकलीफ सहकर पृथ्वी परिभ्रमण करते हो? उत्तर में रुद्रदत्त ने अपनी जितनी दुःख कहानी थी, वह सब उस पुरुष से कह सुनाई। उनकी कहानी सुनकर उस पुरुष ने इनके साथ सहानुभूति प्रकाशकर कहा कि—

यहाँ से थोड़ी दूर चलकर एक बहुत ही संकीर्ण मार्ग मिलता है। उसे बकरों पर चढ़कर पार करना पड़ता है। क्योंकि वह पर्वत प्रदेश होने से, बिना बकरों की सहायता के पार नहीं किया जा सकता। सो जब तुम बकरों के द्वारा मार्ग तय करके निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच चुको, तब उन सब बकरों को मार डालना और उनके चमड़े की भाथड़ियें बनाकर उनके भीतर घुस जाना और उन्हें भीतर से सी लेना। उन्हें माँस पिण्ड समझकर बहुत से गृद्ध आवेंगे और उठा-उठाकर रत्नद्वीप में ले जावेंगे। जब वे वहाँ पहुँच जावें

और अपनी चोंचों से उन्हें फाड़ने लगें, तब तुम छुरी से चीरकर उनके बाहिर निकल आना। तुम्हें देखकर डर के मारे वे सब गृद्ध भाग जावेंगे। फिर तुम लोग अपनी इच्छानुसार वहाँ से रत्न ले लेना। रुद्रदत्त उसकी बात सुनकर बहुत खुश हुआ। उसने उस मनुष्य के कहे अनुसार बकरे खरीदकर चारुदत्त से कहा कि— यहाँ से अपने को पर्वत पर चलकर जिन मन्दिरों की वन्दना चाहिए। परन्तु वह मार्ग बहुत संकीर्ण है। इसलिए बकरों पर चढ़कर चलना होगा। बकरों के मारने का हाल चारुदत्त को कुछ भी मालूम न था। उस मनुष्य ने ये सब बातें रुद्रदत्त से कहीं थीं। रुद्रदत्त ने चारुदत्त को जिन चैत्यालय की वन्दना के बहाने से पर्वत पर चलने को राजी कर लिया। सच है मायावी पुरुष हरेक को अपने पंजे में फँसा लेते हैं।

वे सब वहाँ से रवाना होकर वहीं पर पहुँचे जहाँ से पर्वत पर चढ़ना पढ़ता था। रुद्रदत्त ने उन लोगों से कहा—अभी आप लोग यहीं पर ठहरें क्योंकि आगे रास्ता केवल चार अंगुल चौड़ा है। मैं थोड़ी दूर जाकर देख आता हूँ कि साफ रास्ता हम लोगों को कहाँ से मिलेगा। और मुझ अकेले के जाने से किसी तरह की हानि भी न होगी। मैं बहुत जल्दी पीछे लौटकर आ जाऊँगा। सुनकर उन सबों ने रुद्रदत्त से कहा कि—आपको जाना उचित नहीं है, हम लोग ही जाते हैं। हम लोगों को कोई भारी आपत्ति का सामना भी यदि करना पड़े तो उससे उतनी हानि नहीं होगी कि जितनी आप अकेले से हो जानी सम्भव है। यह है भी ठीक कि, आलसी और कर्मण्य पुरुष बहुत भी जीते रहें परन्तु उनसे उतना लाभ नहीं पहुँच सकता जितना कर्मवीर एक ही पुरुष के जीने से पहुँच सकता है। इन लोगों के पारस्परिक वार्तालाप को सुनकर चारुदत्त बोला—

भाईयों! आप लोगों का जाना मुझे उचित नहीं जान पड़ता। क्योंकि एक के लिये बहुतों का नाश होना अच्छा नहीं है। इसलिए आप तो यहीं कुछ देर तक विश्राम कीजिए। मैं जाता हूँ और सुगम मार्ग देखकर अभी ही लौटे आता हूँ। यह कहकर चारुदत्त जिन भगवान की हृदय में आराधना कर बकरे पर चढ़ा और बहुत जल्दी उस चार अंगुल चौड़े रास्ते को पार कर गया। चारुदत्त सुमार्ग देखकर जब तक वापिस आता है कि उसके पहले ही रुद्रदत्तादि उसके आने में देरी समझकर उसी ओर चल पड़े। वे आधी दूर पहुँचे होंगे कि उधर से चारुदत्त भी आ गया और इन्हें देखकर बोला कि— मैं तो आ ही रहा था, आप लोग वहीं क्यों न ठहरे? इतनी जल्दी करके आपने उचित नहीं किया। उत्तर में वे कहने लगे कि—तुम्हें इतनी देरी हो गयी। इसी से यह समझकर कि कहीं तुमको किसी आपित्त का तो सामना नहीं करना पड़ा है—हम लोग अधिक देर तक न ठहरकर तुम्हारे समाचार लेने को चले आये। चारुदत्त ने कहा—जिस भय से आप भीत हुए हैं, जान पड़ता है, दैव ने उसी का सम्बन्ध मिलाया है। अस्तु जो हो, अब चिन्ता करने से कुछ लाभ नहीं निकल सकता। कोई बचने का उपाय करना चाहिए। वे लोग चारुदत्त से बोले कि महाभाग! ठहरिये, हम लोग पीछे लौटते हैं। चारुदत्त यह कहकर कि—आपको लौटना उचित नहीं है आप स्वयं लौट गया। सच है, पुण्योदय सब जगह सहायी होता है। चारुदत्त के लौटते ही वे सब भी उसके पीछे-पीछे चलकर पर्वत पर पहुँच गये। पर्वत पर पहुँचकर चारुदत्त ने उन लोगों से पूछा— भाईयों! तुमने पर्वत पर जिनमन्दिर बतलाये थे वे दिखाई तो नहीं पड़ते, कहो तो कहाँ हैं? उत्तर में रुद्रदत्त ने कहा अभी कुछ आगे हैं। इसलिए अब हमको यहाँ कुछ विश्राम कर लेना चाहिए। बेचारे

भोलेभाले चारुदत्त ने उन लोगों के कहने को ठीक समझकर निद्रा देवी के आराधन में अपने को लगाया। बहुत दूर से आया था, सो थक जाने के कारण से निद्रा आ गयी। इसे निद्रित देखकर उन पापियों ने सब बकरों को मार डाला। सबसे पीछे से उन्होंने चारुदत्त के बकरे को मारना आरम्भ किया ही था कि इतने में उसके मिमयाने से चारुदत्त की निद्रा खुल गयी। वह इस भीषण हत्याकाण्ड को देखकर घबरा उठा। उसने उन पापियों से कहा—अरे! नीचो! तुमने इन निरपराधी जीवों की हत्या करके क्या लाभ उठाया? कहो तो इन बेचारों ने तुम्हारा क्या नुकसान किया था? तुम बड़े ही निर्दयी हो। जरा सोचो तो, यदि कोई इसी तरह तुम्हें भी मार डाले तो, क्या तुम दु:खी न होओगे? तुम मनुष्य नहीं हो किन्तु मनुष्यों में राक्षस हो! धिक्कार है तुम्हारे जीवन को जो मनुष्य होकर भी तुम्हारे में दया का अंकुर तक नहीं दीख पड़ता। याद रखो, यह पाप तुम्हें उसी अवस्था पर पहुँचावेगा, जिस अवस्था पर तुमने इन निरपराध जीवों को पहुँचाये हैं। इसी तरह चारुदत्त ने उन्हें बहुत कुछ धिक्कारा। चारुदत्त का बकरा अभी कुछ जीवित था, उसे इस हालत में देखकर चारुदत्त ने नमस्कार मन्त्र सुनाया जिसके प्रभाव से वह मरकर स्वर्ग में देव हो गया। चारुदत्त की फटकार सुनकर इन लोगों ने जिस कारण से बकरों की हत्या की थी, वह चारुदत्त को कह सुनाया। चारुदत्त को इनकी क्रूरता पर दु:ख तो बहुत हुआ, परन्तु फिर अगत्याइ से भी इनके साथ-सा उस बकरे के चर्म की भाथड़ी बनानी पड़ी। क्योंकि ऐसा न करने से उसके बचने का कोई उपाय नहीं था। भाथड़ी में घुसकर इन्होंने उसके मुँह को भीतर से सी लिया। कुछ देर बाद माँस के लोभ से बहुत से गृद्ध पक्षी वहाँ पर एकत्रित हो गये और भाथड़ियों को अपनी-अपनी चोंचों में दबाकर

ले उड़े। इनमें चारुदत्त की भाथड़ी अन्धे गृद्ध के हिस्से में पड़ी थी। वह उसे ही लेकर उड़ा। ये सब पक्षी समुद्र में उड़े चले जा रहे थे कि इतने में एक दूसरा ही पक्षी आ गया और भाथड़ी छुड़ाने को इन पक्षियों से लड़ने लगा। उसे सबके साथ लड़ता हुआ देखकर अन्धा गृद्ध भागा। जल्दी-जल्दी भागने से भाथड़ी उसके मुँह से समुद्र में गिर पड़ी। वह उसे उठाकर फिर भागने लगा। भाथड़ी फिर भी गिर पड़ी। इसी तरह उसकी भाथड़ी समुद्र में सात बार गिरी; परन्तु तब भी उसने उसे किसी तरह ले जाकर रत्नद्वीप की चूलिका पर रख दी और जब वह खाने के लिये उसे चोंचों से फाड़ने लगा, तब चारुदत्त ने भाथड़ी को चीर डाली और उसके भीतर से आप बाहर निकल आया। एकाएक भाथड़ी में से मनुष्य को निकला हुआ देखकर पक्षी मारे डर के वहाँ से उसी वक्त उड़ गया।

उधर उन रुद्रदत्तादिकों को वे पक्षी किधर उड़ा ले गये, इस बात का पता तक न लगा। चारुदत्त रत्नद्वीप में पहुँच चुका। उसे वहाँ एक सुन्दर जिनमन्दिर दीख पड़ा। वह मन्दिर में गया और जिन भगवान की भक्तिपूर्वक वन्दना और पूजा कर बाहिर आया। वहीं एक मुनिराज विराजे हुए थे। चारुदत्त ने उनकी वन्दना की। मुनिराज ने चारुदत्त को धर्मवृद्धि देकर कुशल प्रश्न के बाद उससे पूछा—चारुदत्त! तुम इस वक्त कहाँ से चले आते हो? चारुदत्त, मुनिराज के मुँह से अपना नाम सुनकर बड़ा विस्मय में पड़ गया। वह मुनि से कहने लगा कि—स्वामी! आपने मुझे क्यों कर जाना? क्या कभी आपने मुझे कहीं देखा है? उत्तर में मुनि ने कहा—चारुदत्त! क्या तुम मुझे नहीं जानते? मैं वही अमितगति विद्याधर हूँ जिसे तुमने एक वक्त छुड़ाया था। तुम्हीं ने तो मुझे बन्धनरहित कर मेरी स्त्री मेरे सुपुर्द की थी। तुम्हारी ही कृपा से मैंने पुत्र-

पौत्रादि सहित बहुत दिन तक राज्य सुख भोगा और अब पुत्र को राज्यभार देकर संसार दु:ख के नाश करने को यह पवित्र जिनदीक्षा ग्रहण कर ली है। मुनिराज ने अपना वृत्तान्त पूरा ही किया था कि इतने में विमान में बैठे हुए दो विद्याधर वहाँ आये। इनके नाम थे—सिंहग्रीव और वराहग्रीव। ये दोनों ही गृहस्थावस्था के मुनि के पुत्र थे और इस समय ये अपने पिता की वन्दना के लिये आये थे। इन्होंने पहले ही जिन भगवान की भक्तिपूर्वक पूजा की और बाद ये अपने पिता की वन्दना करने को आये। आते ही इनसे मुनिराज ने कहा—पुत्रो! जिस पवित्र पुरुष को तुम देख रहे हो, वह मेरा बड़ा भारी मित्र है। इसका नाम है चारुदत्त। पहले तुम इसे इच्छाकार करो। मुनिराज के कहे अनुसार उन दोनों ने चारुदत्त को इच्छाकार कर मुनिराज से पूछा—नाथ! ये कौन हैं? कहाँ के रहनेवाले हैं? और आपकी इनकी मित्रता कैसे हुई? यह सब जानने की इच्छा है। पुत्रों के प्रश्न के उत्तर में मुनिराज ने बीता हुआ सब हाल उनसे कह सुनाया। सुनकर वे दोनों भाई बहुत खुश हुए और चारुदत्त से बहुत प्रेम करने लगे।

इसी अवसर में वहीं पर दो देव विमान में बैठकर आ उपस्थित हुए। उन्होंने पहले ही जिन भगवान की वन्दना की फिर चारुदत्त की और उसके पीछे मुनि की। यह देख सिंहग्रीव देव से बोला—क्या स्वर्ग के सभी देव तुम सरीखे ज्ञान शून्य हैं? सुनकर देवों ने कहा—भाई! बताओ कि तुमने यह बात कैसे जान पाई कि स्वर्ग के देवता ज्ञानशून्य हुआ करते हैं? सिंहग्रीव ने उत्तर में कहा—तुम ज्ञानशून्य हो या ज्ञानवान, यह तुम्हारे बर्ताव से ही स्पष्ट जान पड़ता है। देखो! तुम्हें पहले मुनि को वन्दना करनी चाहिए थी सो ऐसा न कर तुमने पहले गृहस्थ की वन्दना की। यह सुन देवों ने

कहा, वह ठीक है। परन्तु चारुदत्त हमारा प्रथम गुरु है। इसी कारण हमने इसे पहले वन्दना की है। सिंहग्रीव ने कहा—अच्छा यही सही परन्तु बतलाओ तो, चारुदत्त तुम्हारा प्रथम गुरु कैसे है? उत्तर में यह देव जो बकरे का जीव मरकर देव हुआ बोला—

काशी में एक सोमशर्म ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्री का नाम सोमिला था। इनके भद्रा और सुलसा नाम की दो कन्यायें थीं। सोमशर्म ने इन्हें सब शास्त्रों में अच्छी निपुण कर दी थीं। ये अपने विद्या के अभिमान में चूर होकर कुमारी अवस्था ही में साध्वी हो गयीं। इनकी बहुत कुछ प्रसिद्धि सुनकर याज्ञवल्क्य साधु शास्त्रार्थ करने की इच्छा से इनके पास आया और शास्त्रार्थ में सुलसा को जीतकर और उसके साथ अपना विवाह कर सुखपूर्वक इसी के पास रहने लगा। कुछ दिनों बाद इनके एक पुत्र हुआ। इन पापियों ने लज्जा के भय से उस बच्चे को पीपल के वृक्ष के नीचे अकेला डाल दिया और आप दूसरी जगह चल दिये। सुलसा की दूसरी बहन भद्रा उस अनाथ बच्चे को वहाँ से अपने घर पर ले आयी और उसका पालन पोषण करने लगी। भद्रा ने बच्चे को पीपल के फल को मुँह में लेते हुए देखा था, इसलिए उसका नाम भी उपने पिप्पलाद रख दिया। जब बच्चा कुछ बड़ा हुआ, तब भद्रा ने उसे पढ़ाना आरम्भ करा दिया। कुछ वर्षों में वह पढ़कर अच्छा विद्वान हो गया। एक दिन न जाने बच्चे के दिल में क्या तरंग उठ आयी सो उसने भद्रा से पूछा कि—माता! मेरा पिप्पलाद नाम क्यों रखा गया? और मेरे पिता कहाँ हैं? मुझे तुम यह सब हाल सुना जाओ। भद्रा ने उसका अधिक आग्रह देखकर उसे पहले का सब हाल वैसा का वैसा ही सुना दिया। पिता की इस निर्दयता पर उसे बहुत खेद हुआ, परन्तु फिर भी उसे वह सहन कर गया। केवल उसकी यह

इच्छा बनी रही कि किसी तरह पिता को नीचा जरूर दिखाना चाहिए। यह विचारकर वह पिता के पास पहुँचा और बोला कि — मुझसे शास्त्रार्थ करिये। याज्ञवल्क्य को भी अपनी विद्या का घमण्ड तो था ही। उस पर भी इस छोटे से लड़के साथ शास्त्रार्थ करना उसे कोई भारी काम नहीं जान पड़ता था। उसने पिप्पलाद का कहना स्वीकार कर शास्त्रार्थ करना आरम्भ किया। परन्तु पिप्पलाद के सामने उसका सब अभिमान दूर हो गया। उसने छोटे से बालक से अपनी पराजय स्वीकार की। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार पिप्पलाद ने पिता को नीचे दिखाकर वाद अपनी सारी कथा उसे कह सुनाई। पुत्र की यह हालत देखकर याज्ञवल्क्य बहुत प्रसन्न हुआ। वह उससे गले लगकर मिला। आज बहुत दिनों बाद फिर भी पिता ने छोड़े हुए पुत्र का मुँह देखा। इस शास्त्रार्थ में वियज पाने से पिप्पलाद की बड़ी भारी प्रसिद्धि हो गयी। वह सब याज्ञिक ब्राह्मणों में प्रधान गिना जाने लगा। उसी का मैं शिष्य हो गया। गुरुजी ने सब यज्ञकर्म करने की मुझे ही आज्ञा दे रखी थी। उनकी आज्ञानुसार सब कर्म मुझे ही कराने पड़ते थे। यज्ञ में बकरे भी मारे जाते थे। वह भी काम मुझे ही करना पड़ता था। मैंने असंख्य बकरों की जानें लीं। इसी पाप से मुझे नरक में जाना पड़ा। वहाँ मैंने बहुत से दु:ख भोगे। जब नरकस्थिति पूरी हो चुकी तब वहाँ से निकलकर मैंने बकरे की पर्याय धारण की। मुझे ब्राह्मणों ने बहुत वक्त यज्ञ में मारा। अन्त में कुछ ऐसा ही पुण्यकर्म का उदय हो आया जो हुआ तो बकरा ही परन्तु अबकी बार मैं इस पुण्य पुरुष के हाथ पड़ गया।

ये लोग रत्नद्वीप को जा रहे थे। रास्ते में एक पर्वत पर पहुँचकर इनके साथी रुद्रदत्त ने छह बकरों को तो वहाँ मार डाले। अन्त में मेरा भी नम्बर आया। पापी रुद्रदत्त ने मेरे गले पर छुरी चला दी। मेरे

भाग्य से इस महात्मा की नींद दूर गयी। इसने मुझे मारते हुए देखकर उस पापी को बहुत धिक्कारा। उस वक्त मैं प्राय: मर ही चुका था केवल कुछ ही श्वासोच्छवास बाकी थे। यह देख इस दयालु ने मुझे महामन्त्र सुनाया। मेरा भी अच्छा होनहार था इसी से मन्त्र के ध्यान में उपयोग लग गया। अन्त में मरकर मुझे देवपद मिला। अविधज्ञान के द्वारा इस उपकारक का उपकार याद कर मैं इसकी वन्दना करने को आया हूँ। यह विभव का पाना इसी की कृपा का फल है। इसीलिए मैंने इसे अपना आदि गुरु समझकर पहले वन्दना की है। इसके बाद ही उसका दूसरा साथी भी बोल उठा कि चारुदत्त मेरा भी आदि गुरु है। क्योंकि जब मैं रसकूपिका में पड़ा-पड़ा मर रहा था, उस समय इसी पवित्र पुरुष ने मुझे महामन्त्र का ध्यान करना सिखया था। उसी की कृपा से मुझे भी यह पद मिला है, इसलिए यह मेरा असाधारण उपकारी और आदि उपदेशदाता गुरु है। इसीलिए हमने पहले इसे नमस्कार किया है। बड़े लोगों का कहना है कि जिसने एक अक्षर अथवा एक पद भी सिखाया है, वह भी परम उपकारी है। उसके भी उपकार को जो लोग भूल जाते हैं, वे पापी हैं। फिर यह तो पवित्र धर्म का उपदेष्टा है। इसका तो जितना सम्मान किया जाये उतना थोड़ा है। दोनों देव अपनी-अपनी कथा सुनाकर चारुदत्त से बोले—पुण्यपुरुष! हम आपके दास हैं। हमारे लिये कुछ आज्ञा कीजिए, जिसे पालन कर हम अपने जीवन को कृतार्थ करें। यह सुन चारुदत्त ने कहा कि—मैं आप सरीखों को तकलीफ देना अनुचित समझता हूँ। परन्तु हाँ, इतनी प्रार्थना अवश्य करता हूँ कि यदि मुझे अपने मित्रों से आप मिला दें, तो बड़ी कृपा हो। सुनकर उसी समय वे देव चले गये और उन्होंने थोड़ी देर में चारुदत्त के मित्रों को लाकर उसके पास उपस्थित कर

दिये। वे सब भी चारुदत्त के वियोग से दु:खी हो रहे थे, सो अनायास चारुदत्त को देखकर बड़े ही प्रसन्न हुए। अन्त में देवों ने फिर प्रार्थना की कि—महाभाग! अब आप धन के कमाने की तकलीफ न उठावें। आपको जितने धन की जरूरत है चलिये, चम्पा में आपको उतना ही धन मिल जायेगा। यह देख सिंहग्रीव ने देवों को रोक दिया और कह दिया कि अब आप अपने स्थान पर जावें, इनकी फिक्र न करें। इनके लिये सब तरह का आनन्द है। किसी तरह इन्हें तकलीफ न होगी। सुनकर देव तो अपने स्थान पर चले गये। इधर सिंहग्रीव और बराहग्रीव मुनिराज की वन्दना कर चारुदत्तादि को बड़े महोत्सव के साथ अपने शहर में लिवा लाये। वहाँ उन सभी का उचित आदर सत्कार किया गया। ये लोग भी सुख से फिर वहीं रहने लगे। चारुदत्त ने इसी अवसर में बहुत से विद्याएँ भी सिद्ध कर लीं। चारुदत्त की इधर बहुत कुछ प्रसिद्धि हो गयी। अच्छे-अच्छे राजा महाराजाओं ने चारुदत्त के साथ अपनी-अपनी कन्याओं का विवाह कर दिया। चारुदत्त अपनी बत्तीस स्त्रियों से सुख भोगने लगा।

एक दिन अवसर पाकर सिंहग्रीव ने चारुदत्त से कहा—महाभाग! एक प्रार्थना की जाती है, उसे आप पूरी करें तो बड़ी कृपा हो। प्रार्थना यह है कि मेरे एक परम सुन्दरी कन्या है। वह वीणा बजाने में दूसरी सरस्वती है। उसने यह प्रतिज्ञा कर ली है कि जो मुझे वीणा के बजाने में पराजित कर देगा, मैं उसी के साथ अपना विवाह करूँगी। सो आज तक किसी ने उसे जीत नहीं पाई, इसलिए वह अभी अविवाहिता है। मैंने एक अच्छे विद्वान् ज्योतिषी से पूछा था कि इसका विवाह किसके साथ होगा? ज्योतिषी ने उत्तर में कहा था कि—चारुदत्त के शहर में वीणा बजाने में सुचतुर

पुरुष उत्पन्न होगा। वही इसका स्वामी होगा। इसलिए हे पूज्य! इसे आप अपने साथ ले जाइये और इसकी प्रतिज्ञा के अनुसार जो इसे वीणा बजाने में जीत ले उसी के साथ इसे विवाह दीजिए। चारुदत्त ने सिंहग्रीव की प्रार्थना स्वीकार की। जब वह पुत्री को साथ लेकर आने लगा तब उसके साथ बहुत से विद्याधर उसे पहुँचाने को चम्पानगरी तक आये। महाराज विमलवाहन ने जब यह सुना कि चारुदत्त आ गया है, उन्हें बहुत खुशी हुई। वे भी उसकी अगवानी करने को उसके सामने आये। चारुदत्त महाराज का अपने लिवाने को आना सुनकर बहुत आनन्दित हुआ और स्वयं भी महाराज के सामने जाकर और अच्छी-अच्छी वस्तु उनको भेंटकर बड़े ही विनय के साथ उनसे मिला। चारुदत्त की भेंट से महाराज बहुत खुश हुए और उसे सुयोग्य समझकर उनने अपना आधा राज्य चारुदत्त को दे दिया।

महाराज से मिले वाद चारुदत्त अपनी दु:खिनी माता और स्त्री से मिलने को घर पर गया। माता अपने बिछुरे पुत्र को पाकर बहुत सन्तुष्ट हुई। उसने पुत्र को गले लगाया और शुभाशीर्वाद दिया। अपने प्यारे प्राणनाथ को पाकर उसकी स्त्री को जो खुशी हुई वह लेखनी से नहीं लिखी जा सकती। इसका अनुभव उन्हीं पाठक और पाठिकाओं को हो सकता है, जिन्हें वियोग के बाद सुख सम्मिलन का सुख मिला है।

वसन्तसेना की माता ने चारुदत्त को पाखाने में डाल दिया था और वह वहाँ से चल दिया था। यह हाल जब वसन्तसेना को मालूम हुआ तभी से उसने भी यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि मेरे इस जन्म का स्वामी चारुदत्त ही है। उसे छोड़कर मैं कभी दूसरे की ओर विकार दृष्टि न डालूँगी। सो वह भी चारुदत्त का आना सुनकर

बहुत सन्तुष्ट हुई और जितना धन चारुदत्त ने उसे दिया था, वह सब लेकर चारुदत्त के यहाँ आ गयी। चारुदत्त का सब काम पहले की तरह चलने लगा। चारुदत्त के साथ जो विद्याधर सिंहग्रीवादिक पहुँचाने को आये थे, सब अपना-अपना कर्तव्य पूराकर अपने-अपने घर की ओर रवाना हुए। चारुदत्त सुखपूर्वक रहने लगा।

कुछ दिन बीतने पर चारुदत्त ने सिंहग्रीव की कन्या का विवाह वसुदेव के साथ कर दिया। वसुदेव ने कन्या को वीणा बजाने में हरा दी थी। कन्या का नाम गन्धर्वसेना था।

चारुदत्त की पट्टरानी होने का सौभाग्य उसके मामा की पुत्री को मिला। इसके नीचे वसन्तसेना की गणना होने लगी। इनके सिवाय और जितनी स्त्रियाँ थी, उनके भाग्य के अनुसार वे भी चारुदत्त के द्वारा सम्मानित होती थीं। इस प्रकार बहुत काल पर्यन्त चारुदत्त ने अपनी सभी स्त्रियों के साथ विषयसुख भोगा और बहुत कुशलता से प्रजा पालन किया। एक दिन वह महलों पर चढ़कर प्रकृति की शोभा का निरीक्षण कर रहा था, कि इतने में उसे एक बड़ा भारी बादल का टुकड़ा छिन्न-भिन्न होते दीख पड़ा। देखते ही उसे संसार की लीला भी इसी तरह की जँची। वह उसी वक्त सबसे उदासीन हो गया और अपने बड़े पुत्र को राज्यभार देकर बहुत से राजाओं के साथ-साथ उसने पवित्र जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। पश्चात् वह कठिन से कठिन तपश्चरण कर सर्वार्थसिद्धि में जाकर देव हुआ।

भाईयों! विचारो, चारुदत्त की एक वक्त क्या हालत थी और उसका घर कैसा था परन्तु जबसे वह वैश्या के जाल में बिद्ध हुआ तब से उसकी कैसी दशा हो गयी थी, उसे याद करो। चारुदत्त ने

असह्य दु:ख भोगे। उसे पाखाने में गिरना पड़ा। मैं नहीं जानता कि इससे भी बढ़कर कोई दु:ख होगा। यह वैश्या, धनी से प्रेम करती है। वह भी केवल दिखावा। वास्तविक प्रेम तो वह स्वप्न में भी किसी से नहीं करती है। बुद्धिमानों! इस प्राणी-घातिनी के संग का परित्याग कर दो। यह विषय की बेल है। अपवित्रता की भूमि है। धर्म और धनादि की नाश करनेवाली है। सुयश-लता का मूलोच्छेदन कर डालनेवाली है। जैसे कुत्ता हड्डी के टुकड़े को चबाता है और उसी की नोंकों से उसके मुँह में खून निकलने लगता है। यद्यपि वह खून है उसी का, परन्तु वह भ्रम से हड्डी के टुकड़े में से खून को निकला हुआ समझकर उस टुकड़े को बड़ी रुचि के साथ खाने लगता है। ठीक यही हालत वेश्याओं के सेवन करनेवालों की है।

जो लोग मद्य, माँस के नहीं खानेवाले हैं उन्हें तो, इन पापिनी वेश्याओं का संग भी नहीं करना चाहिए। क्योंकि इनकी संगति में नियम व्रत और सत्यता आदि उत्तम गुण सुरक्षित नहीं रहने पाते।

वेश्याओं के सेवन से धर्म और सुखादिक का मूल से नाश हो जाता है। इसलिए बुद्धिमानो! वेश्याओं के सेवन का परित्याग करो। जो धर्मात्मा पुरुष इस पाप व्यसन का परित्याग कर जिनभगवान के द्वारा उपदेशित और दयामयी जिनधर्म को धारण करते हैं, वे संसार में सबके सत्कारपात्र होकर चन्द्रमा की तरह उज्ज्वल सुयश के भोगनेवाले होते हैं।

इति चतुर्थः परिच्छेदः।

धनकारन पापनि प्रीति करै, [१]नहिं तोरत नेह जथा तिनकौं।
[२]लव चाखत नीचन के मुँह की, शुचिता कब जाय छियैं जिनकौं।।
मद मांस वजारनि खाय सदा, अँधले विसनी न करैं घिनकौं।
गनिका सँग जे सठ लीन भये, धिक है धिक है धिक है तिनकौं।।
(जिनशतक)

१. यदि धन नहीं होता है तो स्नेह को तिनके समान तोड़ देती है।
२. लार-लाला।

पाँचवीं शिकार – व्यसनकथा

श्रेणिक ने गणधर ने पूछा—कि स्वामी! शिकार के खेलने से किसने दु:ख उठाये हैं? उसकी कथा सुनाईये। भगवान ने यों कहना आरम्भ किया—

श्रेणिक! शिकार खेलने से दु:ख तो बहुतों को भोगने पड़े हैं परन्तु उन सबमें ब्रह्मदत्त अधिक प्रसिद्ध हुआ है। उसी की कथा तुम्हें सुनायी जाती है। ध्यान देकर सुनना। इस कथा के द्वारा भी बहुतों का भला हो सकेगा।

अवन्ती देश के अन्तर्गत एक उज्जयिनी नगरी है। उसके राजा का नाम था ब्रह्मदत्त। ब्रह्मदत्त को शिकार के खेलने की जितनी अधिक रुचि थी, उससे भी कहीं अधिक उसे धर्म के पालन में अरुचि थी। जब वह शिकार करने को जाता और उसे शिकार मिल जाती तो बड़ा खुश होता और यदि शिकार न मिलती तो उतना ही दु:खी होता। इसी प्रकार राज्य पालन करते-करते उसे बहुत दिन बीत गये। एक दिन की बात है कि जब वह शिकार करने को गया तो उसे किसी वन में एक मुनि के दर्शन हो गये। मुनि एक पत्थर की शिला पर ध्यान में निमग्न बैठे हुए थे। मुनि के प्रभाव से उस दिन ब्रह्मदत्त को शिकार न मिली। वह अपने घर पर लौट गया। दूसरे और तीसरे दिन भी वह शिकार करने को गया परन्तु फिर भी उसे शिकार न मिली। यह देख ब्रह्मदत्त मुनिराज पर बड़ा क्रोधित हुआ। उसने बदला लेने के लिये दारुण कर्म करना आरम्भ किया। वह यह कि—एक दिन की बात है कि मुनिराज तो शहर में आहार करने को गये और इधर ब्रह्मदत्त ने आकर मुनिराज के ध्यान करने की शिला को अग्नि की तरह गर्म करवा

दी। मुनिराज भोजन करके वापिस आये और ध्यान करने को उसी शिला पर बैठ गये। बैठते ही उनका शरीर जलने लगा, असह्य वेदना होने लगी। परन्तु तब भी मुनिराज उस पर से न उठे और घोरतर उपद्रव सहते रहे। अन्त में अपनी ध्यानरूप अग्नि से कर्मों का नाशकर और अन्त:कृत केवली होकर वे अविनश्वर धाम में जा बसे। देवों ने आकर उनके इस अलौकिक धैर्य की प्रशंसा की और उनका यशोगान करते हुए वे अपने स्थान पर चले गये।

इधर सात दिन भी न बीतने पाये थे कि इस घोर पापकर्म के उदय से ब्रह्मदत्त के सारे शरीर में कोढ़ निकल आया। उसे उसकी इतनी अधिक पीड़ा होती थी कि कहीं एक जगह बैठना तक उसके लिये कठिन हो गया था। जब उसने देखा कि अब इस रोग की निवृत्ति होना सहज नहीं दिखता, तब दु:खी होकर अपने शरीर को अग्नि में डाल दिया। इस आर्तध्यान से मरकर ब्रह्मदत्त सप्तम नरक में गया। सच है नरक के सिवाय पापियों को कहीं स्थान नहीं मिलता है। नरक में उसने तैतीस सागर पर्यन्त छेदन, भेदन, यन्त्रों के द्वारा पिलना और अग्नि में जलना आदि कठिन से कठिन दु:ख भोगे। वहाँ से निकलकर सर्प, व्याघ्र, कुक्कुट, कुत्ता, अजगर और गधे आदि बुरे से बुरे जीवों की पर्यायें उसने धारण कीं और क्रम–क्रम से अन्य सब नरकों में भी वह गया। बहुत से दु:ख सहे, जिनका उल्लेख करना भी असम्भव है।

अबकी बार कुछ पाप का बोझा हलका हो जाने से उसने हस्तिनापुर में किसी धीवर के यहाँ कन्या की पर्याय धारण की। जब कन्या पैदा हुई तब उसका सारा शरीर दुर्गन्ध के मारे नाकों दम किये देता था। यह देख उसके माता–पिता ने उसे किसी जंगल में

डाल दी। दैव की लीला विचित्र है, जो वह अनाथिनी होकर भी किसी तरह पलकर धीरे-धीरे बढ़ने लगी। लोग अब भी उससे बड़ी घृणा करते थे। वह बेचारी जब कुछ बड़ी हो गयी, तब उसने अपने पेट भरने के लिये एक छोटी सी नाव बनवा ली और नदी के किनारे पर ही एक झोपड़ी बाँधकर वह उसी में रहने लगी। जो लोग नदी के पार उतरते, उन्हें नाव में बैठाकर वह पार कर देती और जो वे देते उसी के द्वारा अपना पेट भरती थी।

एक दिन वह अपनी झोपड़ी में बैठी हुई थी कि इतने में उसके सामने एक आर्यिकाओं का संघ निकला। संघ को देखकर न मालूम उसके दिल में क्या बात उत्पन्न हो गयी, जिससे वह घर से निकलकर वहीं पर पहुँच गयी जहाँ संघ जाकर ठहरा हुआ था। संघ की प्रधान आर्यिका को उसने नमस्कार किया। उस आर्यिका का नाम था कल्याणमाला। उसने कन्या की बुरी हालत देखकर पूछा—तू इतनी दु:खी क्यों है? उत्तर में कन्या ने कहा—माता! मैं कर्मों की मारी मरी जाती हूँ। तुम मुझे अब वह उपाय दया करके बताओ कि जिससे मैं दु:खों से छूट सकूं। मुझे तुम जो उपाय बताओगी मैं उसे सहर्ष स्वीकार करूँगी। उसके कहे अनुसार आर्यिका ने उसे अणुव्रतों के ग्रहण करने को कहा। कन्या ने उसी वक्त उन्हें ग्रहण कर लिये और बाद आर्यिका के ही साथ वह चल दी। आर्यिका वहाँ से चलकर राजगृह नगर जाने को रवाना हुई। चलते-चलते रात हो जाने से आर्यिका तो अपने संघ को लेकर किसी पर्वत की गुहा में चली गयी। परन्तु भाग्य से बेचारी कन्या को पर्वत के बाहर ही रहना पड़ा। कन्या सोती हुई थी कि एकाएक एक सिंह ने आकर उसे खा डाली। कन्य अच्छे परिणामों से मरकर राजगृह में एक सेठ की पुत्री हुई। सेठ का नाम कुबेरदत्त

था। भाग्य से वह कन्या हुई तो बड़ी सुन्दर, परन्तु रही पहले की तरह दुर्गन्धा ही। इसी से कोई उसके साथ विवाह नहीं करना चाहता था। बेचारे सेठ को इस बात का बड़ा ही दु:ख था परन्तु कुछ कर नहीं सकता था। सच है, बुद्धिमानों को कन्या के होने से दु:ख ही उठाने पड़ते हैं।

एक दिन उधर ही श्रुतसागर मुनि आ निकले। सब शहर के लोग उनकी वन्दना करने को गये। कुबेरदत्त भी अपनी कन्या को साथ लेकर मुनिराज के पास गया और उनकी वन्दना कर वहीं पर बैठ गया। समय पाकर उसने मुनि से प्रार्थना की कि—स्वामी! यह कन्या सुन्दरी होने पर भी दुर्गन्धा क्यों है? आप कृपा कर कहो। मुनिराज बोले, यह जीव जैसे कर्म करता है, उसके अनुसार उसे दु:ख ही उठाने पड़ते हैं? इस कन्या के जीव ने पहले जन्म में एक मुनि को जला दिया था उसी का यह फल है जो इस जन्म में भी इसे दारुण दु:ख भोगना पड़ा है। इसने उस पाप से कितने दु:ख भोगे हैं, उनका उल्लेख करना कठिन है। कन्या अपने जन्म का हाल सुनकर बहुत दु:खी हुई और रोकर मुनि से बोली कि—नाथ, हाय! कहाँ तो मेरा राजकुल में जन्म और कहाँ अब यह अपवित्र स्त्रीपर्याय? स्वामी! मुझे नरकों में जो दु:ख भोगने पड़े हैं, वे सब आज मेरी आँखों के सामने नृत्य कर रहे हैं। यह आपकी कृपा है जो मुझे जातिस्मरण हो आया। उससे मुझे यह अच्छी तरह ज्ञात हो गया कि पाप का फल कैसा भयानक होता है? अब मुझे आप कुछ व्रत धारण करवाइये जिससे आगामी दु:ख न उठाने पड़े और उत्तम गति की प्राप्ति हो। उसके कहे अनुसार मुनि ने उसे षट्रसत्यागव्रत का उपदेश दिया और कहा कि—इस व्रत के द्वारा स्त्रीलिंग नष्ट होकर स्वर्ग में देव पदवी मिलती है और फिर धीरे-धीरे मोक्ष प्राप्त हो

जाती है। कन्या बोली कि—नाथ! यदि ऐसा है तो मुझे इस व्रत का स्वरूप भी समझा दीजिए। मुनिराज कहने लगे कि पुत्री! आरम्भ में तो एक महीने तक प्रतिदिन एक-एक रस छोड़ना चाहिए और एक ही स्थान पर बैठकर अपनी शक्ति के माफिक एक वक्त अथवा दो वक्त भोजन करना चाहिए। इसी प्रकार छह महीने तक करने से यह व्रत पूर्ण होता है। जब व्रत पूर्ण हो जाये, तब जिनमन्दिर बनवाकर उसकी प्रतिष्ठा करवानी चाहिए। अथवा गुरु की आज्ञा के अनुसार विद्यादान आदि किसी धर्म कार्य में धन खर्च करना उचित है। अन्त में मण्डल मण्डवाकर शान्तिविधान और अभिषेक आदि करवाना चाहिए और इसी समय छहों रसों का विशेषपने त्याग करना उचित है। भाग्यानुसार जैसा कुछ भोजन मिले उसे ही सन्तोषपूर्वक कर लेना चाहिए। भोजन के पहले एक बात और याद रहनी चाहिए वह यह कि—जब भोजन करने लगे, तब उसके पहले भोजन के अष्टांश से देव, गुरु और शास्त्र की पूजन करके गुरुओं की आज्ञा ले ले तब भोजन करे। पुत्री! इस व्रत के करने से कुछ तकलीफ जरूर होती है, परन्तु वह इसके भावी फल का विचार करने पर कुछ भी नहीं जान पड़ती। इसलिए सश्रद्धा इस व्रत को स्वीकार कर। संसार के दु:खों से डरनेवाले पुरुषों को तो यह व्रत सर्वथा ग्रहण करना चाहिए। मुनिराज के कहे अनुसार कन्या व्रत को धारणकर घर पर गयी और उसका यथाविधि पालन करने लगी। जब व्रत पूरा हुआ, तब उसका उद्यापन भी खूब धन लगाकर किया। वह आयु के अन्त में मरकर स्वर्ग में देव हुई। वहाँ उसने बहुत काल पर्यन्त उत्तम-सुख सुख भोगे और पश्चात् वह स्वर्ग से चयकर पटना के महाराजा शक्तिसिंह के वज्रसेन नाम का पुत्र हुआ। बड़े होकर महाराज ने अपना राज्य का सब भार उसी के आधीन कर दिया और

आप जिनदीक्षा लेकर तपस्वी हो गये। उनके बाद कुछ दिनों तक तो वज्रसेन ने भी पुत्र पौत्रादि के साथ राज्य सुख भोगा किन्तु अन्त में वह भी संसार से उदासीन हो गया और जिनदीक्षा लेकर तपश्चर्या करने लगा और फिर कुछ ही दिनों में ध्यान के बल से कर्मों का नाशकर मोक्ष में जा बसा।

श्रेणिक, देखा न? जिसकी एक वक्त शिकार के खेलने से बड़ी बुरी दशा हुई थी, वही ब्रह्मदत्त व्रत के प्रभाव से अब मोक्ष का सुख भोग रहा है। जो सर्व साधारण के लिये बड़ा है–दु:साध्य है। बुद्धिमानो! इस जीवसंहारी कर्म को छोड़ो। इस निर्दय व्यसन के द्वारा जो नरकादि कुगति में दु:ख उठाने पड़ते हैं, उनकी तो हम चर्चा ही छोड़ देते हैं। परन्तु प्रत्यक्ष में भी यदि आप देखेंगे तो आपको जान पड़ेगा कि—शिकार खेलनेवालों का हृदय बड़ा ही कठोर और निर्दय होता है, उनकी आँखों से सदा क्रोध की चिंगारियाँ छूटा करती हैं, बुद्धि उनकी बड़ी क्रूर होती है और हर वक्त उनके हृदय में पाप वासनायें जागृत रहती हैं। बहुत से लोग शिकार खेलने को बड़ी वीरता का काम बताते हैं परन्तु यह उनकी केवल स्वार्थान्धता है। भला! जिसमें बेचारे निरपराध जीवों का सर्वनाश संहार किया जाता है, वह वीरता का काम कैसे कहा जा सकता है।

सभी यह बात अच्छी तरह जानते हैं कि एक जरा से कांटे के लग जाने से अत्यन्त दु:ख होता है। परन्तु खेद है कि वे पापी लोग फिर भी इस भयानक कर्म के करने से बाज नहीं आते। भाईयो! यदि अपना और दूसरों का भला चाहते हो? यदि कुछ भी तुममें दया है, और इस पवित्र मानव जीवन को निर्दोष और शान्ति सुख

का स्थान बनाना चाहते हो तो हृदय से क्रूर बुद्धि को निकालकर बाहर फेंक दो इसी में हित है।

श्री वीर भगवान का शान्त और परम दयामय धर्म तुम्हारे हित का उपदेशक है, जिसके धारण करने की जी-जान से कोशिश करो। यही परम सुख का साधन है।

इति पंचम परिच्छेदः।

काननमैं वसै ऐसौ आन न गरीब जीव,
प्राननसौं प्यारौ प्रान पूंजी जिस यहै है।
कायर सुभाव धरै काहूसौं न द्रोह करै,
सबही सौं डरै दांत लिये तृन रहै है।।
काहूसौं न रोष पुनि काहूपै न पोष चहै,
काहू के परोष परदोष नाहिं कहै है।
नेकु स्वाद सारिवेकौं ऐसे मृग मारिवेकौं,
हा हा रे कठोर तेरो कैसैं कर बहै है।।

(जिनशतक.)

छट्ठी चौर्य–व्यसनकथा

श्री गौतम गणधर को नमस्कार कर श्रेणिक ने नम्रता से पूछा कि—स्वामी! चोरी करने में किसने दु:ख भोगे हैं? उसकी कथा कहिये। गणधर ने कहा—श्रेणिक! तुमने यह प्रश्न बहुत अच्छा किया। चोरी के करने से दु:ख तो बहुतों को उठाने पड़े हैं परन्तु सबमें अधिक प्रसिद्ध शिवभूति हुआ है। इसलिए उसी की कथा तुम्हें कही जाती है। इस कथा में यह बात खुलासा बतलाई जायेगी कि शिवभूति ने किस तरह तो चोरी की और उसे इससे किस तरह का दु:ख उठाना पड़ा है। तुम ध्यान से इस उपाख्यान को सुनो। क्योंकि कथाओं का सुनना भी धर्म प्राप्ति का कारण है।

भारतवर्ष के अन्तर्गत बनारस शहर है। उसके राजा का नाम है जयसिंह। जयसिंह की गुणवती रानी का नाम था जयवती। राजा के यहाँ एक पुरोहित रहता था। उसका नाम शिवभूति था। शिवभूति बड़ा सत्यवादी था। प्राय: इससे उसकी प्रसिद्धि हो गयी थी। वह वेदशास्त्र का भी बहुत अच्छा विद्वान था। उसके यज्ञोपवीत में हर समय एक छुरी बँधी रहती थी। वह इसलिए कि—मैं कभी झूठ नहीं बोलूँगा। यदि कभी मेरे मुँह से झूठ निकल जावेगी तो उसी समय मैं अपनी जीभ को इसी छुरी से काट डालूँगा। इस प्रतिज्ञा के कारण लोग उसे सत्यघोष भी कहा करते थे। राजा इसे सत्यवादी समझकर इसका बहुत सम्मान करता था। इसी विश्वास के कारण लोग इसके यहाँ अपना अमानत धन रख जाया करते थे।

एक दिन पद्मपुर का सेठ धनपाल बनारस आया। उसने वहाँ के लोगों से पूछा कि मुझे अपना धन अमानत रखना है, उसे किसके यहाँ रखूँ? जिससे मुझे फिर दु:ख न उठाना पड़े। लोगों ने कहा—

तू बड़ा विवेकरहित है। क्या आकाश से तो नहीं गिरा है, जो महाराज के पुरोहित को नहीं जानता? वह बड़ा ही सत्यवादी है। उसके यहाँ धन रखने से तुझे कोई हानि न उठानी पड़ेगी। धनपाल लोगों के कहे माफिक सत्यघोष के पास गया और पुरोहितजी से विनय कर उनके सामने आप बैठ गया। पुरोहित महाराज ने भी सेठ का उचित आदर कर उससे पूछा—आप किसलिए यहाँ आये हैं? कुछ सेवा हो तो कहिये? उसे करने को मैं सर्वथा तैयार हूँ। उत्तर में सेठ ने कहा—महाराज! मुझे कहीं दूसरे देश जाना है। मैं अपना सब धन साथ ले जाना उचित नहीं समझता। क्योंकि नहीं मालूम क्षणभर में क्या हो जाये और फिर मुझे दु:ख में दिन काटना पड़ें। इसलिए मैं आपकी सेवा में आया हूँ। मेरे पास चार रत्न हैं। उनकी कीमत पाँच करोड़ की है। सो इन्हें वस्त्र में बाँधकर आपको सौंपे देता हूँ। आप सावधानी से इनकी रक्षा करें। यदि दैवयोग से कदाचित मुझे धनहानि उठानी पड़े तो फिर मैं इनके द्वारा अपनी जीवनयात्रा अच्छी तरह निर्वाह कर सकूँगा। महाराज! ध्यान रहे—मेरी आगे की जीवनलीला इन्हीं पर निर्भर है। उत्तर में पुरोहितजी बोले—सेठ साहब! अपने रत्नों को आप ही सन्दूक में रख दीजिए। क्योंकि जितने महाशय मेरे यहाँ अपना धन रखने को आते हैं, वे सब अपने ही हाथों से सन्दूक में रख जाते हैं। और जब पीछे लेने को आते हैं, तब अपने ही हाथों से निकाल ले जाते हैं। धनपाल पुरोहितजी के कहे माफिक उनकी सन्दूक में अपने रत्नों को रखकर आप व्यापार के लिये रवाना हो गया।

धनपाल बारह वर्ष तक बाहर रहा और वहाँ उसने व्यापार करके बहुत धन कमाया। जब वह जहाज के द्वारा अपने देश की ओर लौट रहा था, तब रास्ते में दैव दुर्विपाक से उसका जहाज

टक्कर खाकर टुकड़े-टुकड़े हो गया। धनपाल का धन तो जहाज के साथ ही समुद्र में डूब गया, परन्तु उसे एक लकड़े का टुकड़ा हाथ लग गया। उसके सहारे वह बेचारा कठिनाइयों को उठाता हुआ मुश्किल से समुद्र के किनारे पहुँचकर अपने शहर में आ गया। जिनमन्दिर में जाकर उसने भगवान के दर्शन किये और दो दिन तक वहीं ठहरकर वह तीसरे दिन पुरोहित महाराज के पास पहुँचा।

पुरोहितजी महाराज ने उसे आता हुआ देखकर एक चाल चली, वह यह कि आप झट से नाक के आगे हाथ रखकर अपने पास बैठे हुए लोगों से बोल उठे कि शकुन के द्वारा जान पड़ता है कि आज कोई भारी कलंक मुझे लगेगा। बेचारे भोले लोगों ने उनके हृदय के पाप को न जानकर—महाराज! आप बड़े सत्यवादी हैं। भला आपको कैसे कलंक लग सकता है? लोग यह कह ही रहे थे कि—इतने में फटे कपड़े पहने हुए धनपाल वहीं आ उपस्थित हुआ और दूर ही से नमस्कार कर पुरोहितजी के सन्मुख बैठ गया। जब पुरोहितजी महाराज ने उस बेचारे दु:ख के मारे हुए की ओर दृष्टि तक न डाली, तब तो उसे स्वयं पुरोहितजी से बोलना पड़ा। महाराज! मैं आपसे कहकर समुद्रयात्रा करने को गया था। परन्तु दैवदुर्विपाक से जहाज नष्ट हो गया और मेरी यह दुर्दशा हुई है। इसलिए मुझे आपके पास आना पड़ा है। आप मेरी अमानत वस्तु दे दीजिए। कुछ सुने की तरह पुरोहितजी ने कहा—समुद्र में जहाज के डूबने से यह दशा हुई? अस्तु दैव की गति विचित्र है। मालूम होता है, तुझे कुछ जरूरत है। अच्छा ठहर, कुछ दान दिलवाये देता हूँ। जिससे तू फिर अपना प्रबन्ध कर लेना। पुरोहित का कहना सुनते ही सेठ महाशय का रहा सहा धैर्य भी जाता रहा। बड़ी ही मुश्किल से वह बोला कि पुरोहितजी! यह

आप क्या कहते हैं? मुझे आपके दान की जरूरत नहीं है। आप तो मेरे रखे हुए रत्नों को ही दे डालिये। आपकी कृपा का मैं बड़ा ही आभारी होऊँगा। क्योंकि इस वक्त मैं बड़ी भारी आपत्ति से बचकर आया हूँ। रत्नों का नाम सुनते ही पुरोहितजी के कपट क्रोध का कुछ ठिकाना न रहा। वे लाल-लाल आँखें करके बोले—देखो! यह कैसा झूठ बोल रहा है। मैंने अभी ही तुम लोगों से कहा था कि आज का दिन मेरे लिये अच्छा नहीं है। वही हुआ। लोगों ने भी हाँ में हाँ मिलाकर कह दिया कि महाराज! बेचारे का सब धन नष्ट हो गया है, इसी से यह विक्षिप्त सा दीख पड़ता है। क्योंकि धन के नष्ट हो जाने से बुद्धि ठिकाने पर नहीं रहती। नीतिकारों ने यह बहुत ठीक कहा है कि जिसका धन नष्ट हो जाता है, उसके सभी गुण नष्ट हो जाते हैं।

बेचारे धनपाल को सभी ने विक्षिप्त कहकर घर के बाहिर निकलवा दिया, यह देख उससे सभी घृणा करने लगे। शहर के लोगों ने उसे विक्षिप्त कहकर उसकी अवहेलना की। धनपाल राजा के पास दौड़ा गया और उसने अपनी कथा राजा को सुनाई। परन्तु उसका भी कुछ फल न निकला। सब उसे ही विक्षिप्त बताने लगे। बेचारा धनपाल बड़ी चिन्ता में पड़ा। एक तो उसका सब धन नष्ट हो गया और दूसरे उसे ही सब बुरा कहने लगे। यह अपने निर्वाह का कुछ उपाय न देखकर जिनमन्दिर में ही रहने लगा। जो श्रावक इसे भोजन के लिये लिवा ले जाते, उन्हीं के यहाँ यह भोजन कर आया करता था और मन्दिर में रहा करता था। किसी ने इसके कहने का विश्वास न किया किन्तु उल्टा इसे ही सब लोग दोषी बताने लगे। अन्त में जब इसे अपने छुटकारे का कोई उपाय न दीख पड़ा, तब इसे एक युक्ति सूझी। वह यह कि—जब आधी

रात होती, तब यह जिनमन्दिर से निकलकर राजा के महल के पीछे जाता और वहाँ एक वृक्ष के ऊपर चढ़कर बड़े जोर से चिल्लाता कि—महाराज! आप धर्म और अधर्म के विचार करनेवाले हैं। आपको मेरी प्रार्थना पर ध्यान देना चाहिए। कारण जो लोग दुर्बल होते हैं, उन्हें अपने महाराज का ही भरोसा रहता है। महाराज! आप दयालु हैं। आपको दीन दु:खियों पर कृपा करनी चाहिए। जरा मेरी भी प्रार्थना पर ध्यान दीजिए—महाराज! जब मैं समुद्रयात्रा करने को गया था, तब आपके लोभी पुरोहित के पास पाँच करोड़ की लागत के चार रत्न अमानत रख गया था। उन्हें अब पुरोहितजी देते नहीं हैं। आप मेरे रत्न मुझे दिलवा दीजिए। इसी तरह प्रतिदिन वह चिल्लाने लगा। ऐसा करना उसका प्रतिदिन का नियम सा हो गया। ऐसा करते-करते उसे बहुत दिन बीत गये।

एक दिन की बात है कि—अवसर पाकर जयसिंह की रानी जयवती ने अपने स्वामी से कहा कि—प्राणनाथ! देखो, बेचारा यह दरिद्री रोज इसी तरह चिल्लाया करता है। आपको कुछ तो इसके विषय की जाँच करनी चाहिए। महाराज ने यह कहकर कि यह विक्षिप्त हो गया है, रानी के कहने पर कुछ ध्यान नहीं दिया। महारानी फिर बोली—आप नाहक इसे विक्षिप्त कहते हैं। नहीं जाना जाता कि इसमें विक्षिप्त होने की क्या बात है? मुझे तो यह गलती आप ही की दीख पड़ती है, तो इसके न्याय की ओर आपका लक्ष्य ही नहीं जाता। उत्तर में महाराज बोले, यही सही। यदि तुम इसे निर्दोष समझती हो, तो इसके विचार का भार भी मैं तुम्हें ही सौंपे देता हूँ। तुम इसका ठीक-ठीक निर्णय करो कि, वास्तव में अपराधी कौन है? महाराज की यह बात महारानी ने स्वीकार की और इस विषय की परीक्षा का भार अपने ऊपर लेकर

वह महाराज से बोली कि—एक बात आपको करनी होगी, वह यह कि अभी आपको कहीं जाना न चाहिए। महारानी के कहे अनुसार महाराज वहाँ से न जाकर अन्त:पुर ही में ठहरे रहे। महारानी ने महाराज से जुआ खेलना आरम्भ किया। इतने में वहीं पर पुरोहितजी महाराज भी पहुँच गये और आशीर्वाद देकर तिथिपत्र का पाठ करने लगे। जब अपना पाठ पूरा कर चुके, तब महारानी ने उनसे कहा—आइये महाराज! आज तो आप भी हमारे साथ खेलिये। सुनकर पुरोहितजी बोले—महारानीजी भला यह कैसे हो सकेगा। मैं क्षुद्रपुरुष आपके साथ कैसे खेल सकता हूँ? महारानी बोली—वाह! आपने यह अच्छा कारण बतलाया। क्या पिता पुत्री के साथ नहीं खेल सकता? महाराज ने भी महारानी के वचनों का समर्थन कर कह दिया कि पुरोहितजी खेलिये, इसमें क्या दोष है? महाराज के आग्रह से बेचारे पुरोहितजी को खेलना ही पड़ा। खेलते-खेलते महारानी ने अपनी चतुरता से पुरोहितजी के द्वारा गत दिन के भोजन का सब हाल जान लिया। बेचारे पुरोहितजी को इतनी अक्ल कहाँ जो रानी के आशय को समझ जायें। इसी से उन्होंने घर की सब बातें रानी से कह दी। इसके बाद जयवती ने ये सब बातें नेत्र के इशारे से अपनी दासी को समझाकर उसे पुरोहितजी के मकान पर भेजी। दासी ने पुरोहित के घर पर जाकर वे सब बातें उनकी स्त्री से कह सुनाई और उन रत्नों को उससे माँगे, जो पुरोहितजी ने धनपाल के रख लिये थे। वह बिगड़कर बोली कि—चली जा यहाँ से, मेरे पास कोई रत्न नहीं है। दासी ने जाकर यह हाल अपनी स्वामिनी से कह दिया।

जयवती ने अपनी युक्ति का उपयोग न निकला देखकर दूसरी युक्ति निकाली। वह पुरोहितजी से बोली कि—महाराज, अब से

ऐसा कीजिए कि—यदि आप मुझे खेल में हरा देंगे, तब तो मैं अपनी अँगूठी आपको दे दूँगी और यदि आप हार जावेंगे, तो आपको अपनी अँगूठी दे देनी होगी। पुरोहितजी ने लोभ में आकर यह स्वीकार कर लिया और अब वे वास्तविक हार-जीत के साथ खेलने लगे। पहली ही बार पुरोहितजी से महारानी ने अँगूठी जीत ली और उसे गुप्त रीति से अपनी दासी के हाथ देकर पुरोहितजी के घर पर भेजी। दासी ने जाकर वह अँगूठी पुरोहितजी की स्त्री को दिखाई और कहा कि—अब तो तुम्हें मेरा विश्वास हुआ कि मुझे पुरोहितजी ने ही भेजी है। जल्दी से रत्न दे दो। रत्नों को तुम्हारे स्वामी ने मँगाये हैं। फिर भी ब्राह्मणी ने दासी को रत्न न दिये। दासी ने आकर रत्न के न देने का हाल अपनी स्वामिनी से कह दिया।

अबकी बार जयवती ने पुरोहित के गले का हार जीत लिया और उसे दासी को देकर फिर ब्राह्मणी के पास भेजी। दासी ने जाकर कहा कि—देख, पुरोहितजी ने यह हार की निशानी देकर मुझसे कहलवाया है कि मैं बड़े संकट में फँस गया हूँ। यदि मुझे जीता देखना चाहती हो तो हार के देखते ही रत्नों को दे देना। ब्राह्मणी थी तो स्त्री ही न? वह क्या जानती थी कि असली बात क्या है। अस्तु, घर में जाकर रत्नों को ले आयी और उन्हें उसने हार लानेवाली के हाथ दे दिये। दासी ने जल्दी से जाकर रत्नों को महारानी के हाथ में दे दिये। महारानी ने रत्नों को लेकर खेलना तो बन्द किया और जो पुरोहितजी की अँगूठी और हार जीता था, वह वापिस पुरोहितजी को देकर उनसे कहा—बस, महाराज! अब समय अधिक हो गया है। खेलना बन्द कीजिए। महारानी के कहते ही खेल बन्द हुआ। इसके बाद महारानी ने उन रत्नों को गुप्त रीति

से अपने स्वामी को दे दिये और आप वहाँ से विदा हुई।

महारानी के चले जाने पर पुरोहितजी से महाराज ने पूछा—पुरोहितजी! हाँ, यह तो कहिये कि, चोरी करनेवाले को शास्त्रों में क्या दण्ड देना लिखा है? सुनते ही सत्यघोष महाराज बोल उठे कि—महाराज! या तो उसे शूली पर चढ़ाना चाहिए अथवा अच्छे तीखे शस्त्र से उसके टुकड़े-टुकड़े करवा देना चाहिए। ऐसा न करने पर इस पाप का भागी राजा को होना पड़ता है। महाराज ने फिर कहा—यदि चोर इस योग्य न हो तो, उसका क्या किया जाये? पुरोहितजी बड़ी बेपरवाही के साथ कहने लगे कि—महाराज! चोर कैसा ही क्यों न हो, उसे नियम से उपर्युक्त दण्ड देना उचित है। इस पर महाराज ने अधिक न कहकर वे चारों रत्न पुरोहितजी के सामने रख दिये और कहा कि—पापी! द्विजकुलकलंक!! कह तो सही, अब इस पाप का तुझे क्या दण्ड देना चाहिए? तूने बेचारे भोले पुरुषों को इसी तरह धोखा दे देकर ठगे हैं। नहीं तो इतना धन तेरे पास कहाँ से इकट्ठा हो जाता? मैंने तेरी दुष्टता का अभी तक पता न पाया था। सच है, जो लोग छिपकर बुरा काम करते हैं, वे सहसा दूसरों को अपना हाल जानने नहीं देते हैं। महारानी बड़ी बुद्धिमती और विदुषी है, जो उसने आज तेरा सब पाप प्रगट कर दिया। नहीं तो, न मालूम अभी और कितने पुरुष तेरी शिकार बनते। अब यह जल्दी कह दे कि इस पाप का क्या प्रायश्चित्त तुझे दिया जावे? पुरोहितजी रत्नों को देखते ही चित्राम के लिखे से हो गये। उनका मुख कान्तिहीन हो गया। सच है, जब छिपे पाप प्रगट होते हैं, तब जीवों की यही हालत हुआ करती है।

महाराज बोले—पुरोहितजी, आपको शूली का सुख तो अभी दिलवा देता, परन्तु आपने ब्राह्मण कुल में जन्म लिया है, इसलिए

इस कठोर दण्ड से आपकी रक्षा की जाती है और यह कहा जाता है कि मेरे यहाँ चार मल्ल हैं। सो या तो उन प्रत्येक के हाथ की चार-चार मुक्कियों मार सहो, अथवा तुम्हारे सामने एक गोबर की थाल रखी जाती है, उसे तुम खा जाओ। यदि यह भी तुम्हें मंजूर न हो, तो अपना धन मेरे सुपुर्द करो और तुम यहाँ से कहीं निकल जाओ।

अपने लिये दण्ड की योजना सुनकर पुरोहितजी ने कहा—महाराज, मैंने अपना धन बड़े क्लेश से कमाया है, उसे मैं नहीं दे सकता। हाँ गोबर की थाल रखिये, उसे खाऊँगा। पुरोहितजी के कहे माफिक गोबर मँगाकर उनके सामने रखा गया, परन्तु जब उसका वे एक ग्रास भी न खा सके तब फिर बोले—महाराज! यह नहीं खाया जा सकता। आप अपने मल्लों को बुलवाइये, मैं उनकी मुक्कियाँ सहूँगा। मल्ल बुलवाये गये और उन्हें पुरोहितजी को चार-चार घूँसे लगाने की आज्ञा दी गयी। मल्लों ने निडर होकर पुरोहितजी को घूँसे लगाने आरम्भ किये। घूँसों की मार पूरी भी न होने पायी थी कि बीच में ही पुरोहितजी के प्राण निकल गये। पाप का उचित प्रायश्चित उन्हें मिल गया। इसके बाद महाराज ने पुरोहित का जितना धन था, वह भी सब जप्त कर लिया और उनकी स्त्री को भी देश से निकाल बाहिर की। पुरोहितजी ने आर्त्तध्यान से मरकर महाराज के खजाने पर ही सर्प की पर्याय धारण की।

इसके बाद महाराज ने धनपाल को बुलवाया। वह बुलवाते ही राजसभा में उपस्थित हुआ और नमस्कार कर महाराज के सामने बैठ गया। महाराज ने उन चारों रत्नों को बहुत से रत्नों में मिलाकर धनपाल से कहा कि—क्या तुम अपने रत्नों को पहचानते हो?

और यदि पहचानते हो तो इन रत्नों में से अपने रत्नों को निकाल लो। महाराज के कहते ही धनपाल ने उन सब रत्नों में से अपने रत्नों को पहचानकर निकाल लिये और वे महाराज को दिखला दिये। यह देख महाराज ने धनपाल की बुद्धि की बहुत प्रशंसा की और कहा कि, तुम अपने रत्नों को ले लो। ये रत्न तुम्हारे ही हैं। लोग जो यह कहा करते हैं कि समुद्र में रत्न होते हैं, वे भूलते हैं। क्योंकि वास्तव में रत्न तो पुरुष हैं। जो रत्न समुद्र में होते हैं, वे रत्न नहीं किन्तु पत्थर हैं। उनसे उतना लाभ नहीं हो सकता, जितना लाभ पुरुषरत्न की बुद्धि से होता है। इस तरह धनपाल की बहुत कुछ प्रशंसा कर महाराज ने उसे और भी अपनी ओर से पाँच गाँव जागीरी में देकर बहुत खुशी के साथ उसके घर पर पहुँचा दिया।

एक दिन की बात है कि महाराज अपना खजाना देखने को गये हुए थे। महाराज वहाँ पहुँचे ही थे कि इतने में पुरोहित के जीव ने जो खजाने पर सर्प हुआ था, दौड़कर महाराज के पाँव में काट खाया। सर्प के काटते ही शोर मच गया। सब मन्त्र जाननेवाले बुलवाये गये। उन्होंने अपनी मन्त्रशक्ति से बहुत से सर्पों को बुलवाये और कहा कि जो सर्प महाराज का अपराधी है, वह तो यहीं ठहरे बाकी के सब सर्प चले जावें। मन्त्रवादियों के कहे माफिक गन्धमादन सर्प जिसने कि महाराज को काटा था ठहरा और सब चले गये। फिर मन्त्रवादियों ने उस सर्प से कहा—नागराज, तुम्हें उचित है कि या तो महाराज का पीछा छोड़ दो और यदि यह स्वीकार न हो, तो इस जलते हुए अग्निकुण्ड में कूद पड़ो। सुनकर सर्प को बड़ा क्रोध आया। वह अपने शरीर की भी कुछ भी परवाह न कर झट से अग्नि में जा गिरा और देखते-देखते भस्म हो गया। उसके मरते ही महाराज ने भी अपनी जीवनलीला संवरण की।

भाईयो! देखो, पूर्वजन्म की शत्रुता भी कितनी भयानक होती है। इसी शत्रुता से सर्प ने महाराज को काटा था। इसलिए पूर्ण ध्यान रखो कि कभी किसी के साथ वैर-विरोध न होने पावे। सर्प मरकर नरक गया और महाराज पशुगति में गये। आपने चोरी का उपाख्यान सुना। चोरी कितनी बुरी आदत है। देखो, चोरी ही से सत्यघोष की यह हालत हुई। चोरी से बढ़कर कोई पाप नहीं है। इसी चोरी से बहुत से नरक गये, बहुत से तिर्यंच हुए, बहुतों को शूली पर चढ़ना पड़ा, बहुतों का सिर काटा गया, बहुतों के नाक, कान, हाथ, पाँव आदि काटे गये, बहुतों का धन नष्ट हुआ, बहुतों की कीर्ति में कलंक लगा। कहाँ तक बतलाया जावे, संसार में जितने कठिन से कठिन दु:ख हैं, वे सब चोरी करनेवालों को सहने पड़ते हैं।

बिना दिये किसी की वस्तु के लेने को चोरी कहते हैं। परन्तु इससे भी अधिक वह पाप है, जो अपने यहाँ रखे हुए दूसरे के धन को हजम कर जाने में ही है। इन बुरे कर्मों से बहुतों ने दारुण दु:ख भोगे हैं। इसलिए जो दु:खों से बचना चाहते हैं, उन्हें बुरे कर्म छोड़ देने चाहिए।

चोरी करने से पाप बन्ध होता है। सब गुण नष्ट हो जाते हैं। धन का नाश हो जाता है। शारीरिक और मानसिक कष्ट उठाने पड़ते हैं। इसके सिवाय दोनों लोकों में निन्दा का पात्र होना पड़ता है। इसलिए हे बुद्धिमानो! इस पापकर्म का परित्याग करो और पवित्र जिनधर्म स्वीकार करो। यही आत्मा को पूर्ण शान्ति का देनेवाला है और संसार के दु:खों का नाश करनेवाला है। जिसका देव तक जब यशोगान करते हैं, तब वह कितना उत्तम होगा, यह सहज ही

ध्यान में आ सकता है।

इति षष्ठः परिच्छेदः।

छप्पय।

चिन्ता तजै न चोर, रहत चौंकायत सारै।
पीटै धनी विलोक, लोक निर्दइ मिलि मारै।।
प्रजापाल करि कोप, तोपसौं रोप उड़ावै।
मरै महा दुख पेखि, अंत नीची गति पावै।।
अति विपति मूल चोरी विसन, प्रगट त्रास आवै नजर।
परवित अदत्त अंगार गिन, नीति निपुन परसैं न कर।।

(जैनशतक)

सातवीं परस्त्री–व्यसन कथा

गौतमस्वामी को नमस्कार कर उनसे श्रेणिक ने प्रश्न किया कि—स्वामी, परस्त्री सेवन के द्वारा दु:ख उठानेवाली की कथा सुनाइये। उत्तर में भगवान ने यों सुनाना आरम्भ किया कि—

जिस तरह और–और व्यसनों के सेवन से बहुतों ने दु:ख उठाये हैं, उसी तरह परस्त्री के द्वारा भी बहुतों ने घोरतर दु:ख सहे हैं। परन्तु ऋषिलोग अपने–अपने ग्रन्थों में रावण का अधिक उल्लेख करते हैं, इसीलिए हम भी तुम्हें उसी का उपाख्यान सुनावेंगे। लंकाधिपति रावण ने केवल सीता के हर ले जाने से ही जब अपने पवित्र कुल को कलंकित कर दु:ख उठाये, तब जो परस्त्री का सेवन करते हैं, वे यदि नरक जावें और घोरतर दु:ख सहें तो आश्चर्य क्या है? सुनो—

राक्षसद्वीप के अन्तर्गत लंका नाम की राक्षसों के रहने की नगरी है। वह सुन्दरता में स्वर्ग से किसी अंश में कम नहीं है। यही रावण उसका राजा था। रावण का जन्म राक्षस नामक वंश में हुआ था। जिस प्रकार इन्द्र अपनी राजधानी का सुनीति से राज्य करता है, उसी तरह रावण भी लंका का राज्य नीतिपूर्वक करता था। रावण के दो भाई और थे। उनके नाम थे कुम्भकर्ण और विभीषण। और इन्द्रजीत तथा मेघनाद आदि बहुत से उसके पुत्र थे। रावण की स्त्रियाँ बहुत सी थीं, परन्तु उन सबमें प्रधान महारानी का सौभाग्य मन्दोदरी को मिला था। रावण की राज्यनीति से उसकी सब प्रजा प्रसन्न थी। इसी से कोई उसका शत्रु न था। ठीक भी है, जिसने इन्द्र, वरुण, यम और वैश्रण आदि बड़े–बड़े राजाओं के अभिमान का नाश कर उन्हें अपने आधीन कर लिये थे, फिर पृथ्वी में कौन ऐसा

पराक्रमी राजा रहा होगा, जो इसके शासन का अपमान कर सके।

रावण तीन खण्ड का राजा था, इसी से उसके यहाँ चक्ररत्न भी प्रगट हो गया था जो सब सुखों का कारण समझा जाता है। रावण बड़ा ही प्रतापी और पुण्यशाली था। उसकी प्रसिद्धि सारी पृथ्वी में हो रही थी। उसका सब राजे-महाराजे बड़ा आदर करते थे।

रावण का बहनोई खरदूषण था। इसकी राजधानी अलंकारपुर थी। अपनी भुजाओं के बल से यह भी संसार में प्रसिद्ध हो रहा था। यह भी रावण की तरह तीन खण्ड राज्य का स्वामी था। राक्षसवंशी तथा वानरवंशी आदि सभी इसकी आज्ञा मानते थे और इसे अपना स्वामी कहते थे।

एक दिन कैलाश पर्वत पर श्रीबालमुनि को केवलज्ञान हुआ जानकर उनकी पूजन करने को देव विद्याधर आदि सभी वहाँ आये। इसी समय रावण भी वहाँ पहुँचा और भगवान को नमस्कार कर बैठ गया। सभी ने भगवान का उपदेश सुनकर अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार व्रत नियमादि ग्रहण किये। परन्तु रावण वैसा ही चुपचाप बैठा रहा। उसे चुपचाप बैठा हुआ देखकर बालमुनिराज ने उससे कहा—तुम भी कुछ व्रत नियमादि ग्रहण करो, जिससे आत्मा को शान्ति मिले। रावण बोला—हे भगवान, कहिये मैं क्या व्रत ग्रहण करूँ? उत्तर में भगवान ने कहा—तुम जानते हो कि, जो आचार-विचार से रहित होता है, व्रत नियमों को जो धारण नहीं करता है, उसे बुरी गतियों में दु:ख सहने पड़ते हैं। इसलिए आत्महित के चाहनेवालों को कम से कम एक व्रत तो जरूर ही स्वीकार करना चाहिए। रावण को अपनी सुन्दरता पर बड़ा अभिमान था, इससे उसने उस समय घमण्ड में आकर कहा कि—स्वामी, दया करके

मुझे भी किसी एक व्रत से पवित्र करो। मैं आपके सामने प्रतिज्ञा करता हूँ कि जो स्त्री मुझे न चाहेगी उससे मैं कभी बलात्कार नहीं करूँगा। सुनकर भगवान बोले—जैसी तुम्हारी इच्छा। परन्तु देखना, कहीं इसके पालन करने में भी शिथिल न हो जाना।

रावण व्रत धारण कर अपने घर चला गया और फिर सुखपूर्वक प्रजा का पालन करने लगा। रावण के समय में दूसरा कोई प्रतापी राजा न था जो इसके सुख में बाधा पहुँचा सके। रावण तीन खण्ड का एकछत्र राज्य करता था। उसने जिन शक्तियों के द्वारा अपने राज्य को इस योग्यता पर पहुँचा दिया था, उसकी कथा और–और ग्रन्थों में विस्तृत वर्णन की गयी है। उसके अखण्ड प्रताप ने उसकी प्रसिद्धि सारे संसार में कर दी थी। यह सुन श्रेणिक ने गौतमस्वामी से पूछा—भगवान, आपकी कृपा से रावण के प्रताप और विस्तृत राज्य का तो हाल जान लिया, परन्तु इसमें कुछ और विशेष पूछना है। वह यह कि—रावण ने जो दूसरे की स्त्री हरी थी यह कैसे? और किसलिए हरी थी? उसकी ऐसी बुरी वासना क्यों हुई? और यह स्त्री कौन थी? सुनकर गौतमस्वामी ने कहा—रावण ने जिस स्त्री को हरी थी, वह रामचन्द्र की पत्नी थी। उसका नाम था सीता। वह सुन्दरता में उस समय सारे संसार की स्त्रियों में सुप्रसिद्ध थी। रावण एक दिन युद्ध करने को वन में आया हुआ था। वहीं पर इसे बैठी हुई देखकर उसकी सुन्दरता पर मुग्ध हो गया। और फिर छल से इसके पति का वियोग कराकर इसे आप जबरन उठा ले गया। उसी पाप के फल से आज भी वह नरक में घोर दु:ख भोग रहा है।

यह सुनकर श्रेणिक का और भी कौतुक बढ़ा। उसने पूछा—स्वामी, मुझे इसी कथा के अन्तर्गत कुछ और पूछना है। इस

अविनय की आप क्षमा करें। रामचन्द्र वन में क्यों आये थे? और उन्होंने अपनी पत्नी को अकेली वन में क्यों छोड़ी? स्वामी ने कहा—श्रेणिक, तुम्हारी अधिक-अधिक उत्कण्ठा देखकर आनन्द होता है। तुम निर्भय होकर पूछो। उसके सुनाने में मुझे किसी तरह की रुकावट नहीं है। सुनो, रामचन्द्र वन में क्यों आये? इसकी कथा बहुत बड़ी है। तुम्हें उसका संक्षिप्त वर्णन सुनाया जाता है।

कौशलदेश के अन्तर्गत आयोध्या नाम की एक नगरी है। इसके राजा थे दशरथ। इनकी चार स्त्रियाँ थीं। उनके नाम कौशल्या, सुमित्रा, केकयी और पराजिता थे। इनमें कौशल्या के रामचन्द्र, सुमित्रा के लक्ष्मण, केकयी के भरत और पराजिता के शत्रुघ्न हुए। अपने सुशील पुत्रों के साथ दशरथ सुखपूर्वक प्रजापालन करते थे। बड़े-बड़े राजे-महाराजे दशरथ की आज्ञा के आधीन थे।

एक दिन की बात है कि दशरथ सभा में बैठकर दर्पण में अपने मुखमण्डल की शोभा का निरीक्षण कर रहे थे कि उन्हें कानों के पास एक सफेद बाल दीख पड़ा। उसे देखते ही क्षणमात्र में उनके हृदय में वैराग्य का उदय हो आया। वे विचारने लगे कि—काल के घर का दूत अब आ पहुँचा है, इसलिए इन विषयों से इन्द्रियों को खींचकर अपने वश करूँ। विषयों का सेवन करते-करते बहुत दिन बीत गये। अब भी यदि इनसे उपेक्षा न की जायेगी, तो नियम से कुगतियों के घोर दु:ख सहने पड़ेंगे। क्योंकि यह राज्य केवल संसार का बढ़ानेवाला है। इस अन्तिम अवस्था में उचित है कि इस राज्यभार को रामचन्द्र के सुपुर्द करके मैं जिनदीक्षा स्वीकार करूँ। क्योंकि संसार के दु:खों के नाश करने में यही समर्थ है। यह विचारकर दशरथ ने अपने कुटुम्ब के सब लोगों को बुलवाये और

उनके सामने रामचन्द्र को राज्यभार देना चाहा। जब यह हाल केकयी को मालूम हुआ, तो वह उसी समय उनके पास आई और रोकर उनसे बोली कि—नाथ, मुझ दासी को यहीं अकेली छोड़कर आप कहाँ जाते हैं? मैं भी आप ही के साथ-साथ चलूँगी। जब आप ही नहीं हैं, तब मुझे पुत्र और राज्य से ही क्या मतलब? कुलस्त्रियों को अपने प्राणनाथ के साथ वन में भी क्यों न रहना पड़े, उनके लिये वही सुखस्थल है। वही राज्य महल है। दशरथ बोले—प्रिये, तुम मेरे साथ वन में चलकर क्या करोगी? तुम यहीं रहो और पुत्र को सुखी देखकर आनन्द से दिन बिताओ। यह सुन भरत बोल उठा कि—पिताजी, मुझे घर से कुछ प्रयोजन नहीं है। मैं तो आपके साथ ही जिनदीक्षा स्वीकार करूँगा। अपने पुत्र का भी दीक्षा लेना सुनकर केकयी दशरथ से बोली कि—प्राणनाथ, क्या आपको याद है कि स्वयंवर के समय आपने मुझे एक वचन दिया था? यदि आपको स्मरण हो, तो उसे पूरा करके मेरी आशा को पूरी कीजिए। उत्तर में दशरथ ने कहा—प्रिये, यह न समझो कि मैं अपने वचन को भूल गया। मुझे वह अच्छी तरह याद है। तुम्हें जो चाहिए उसे माँगो, मैं अवश्य ही तुम्हारी इच्छा पूरी करूँगा। क्योंकि नीतिकारों का कहना है कि जो अपने वचनों को पूरा नहीं करते, वे मनुष्य नहीं हैं। इसलिए मैं अपना वचन जरूर ही पूरा करूँगा। तुम वास्तव में मेरी शुभकामना पूरी करनेवाली हो। यह तुम्हारी ही कृपा का फल है जो मैं युद्ध में जीता बचा था। इसलिए अब मुझे भी उचित है, कि मैं भी तुम्हारी इच्छा पूरी करूँ। क्योंकि सब कर्जों में वचन का कर्ज ही बड़ा भारी है। यह सुन केकयी फिर बोली—स्वामी, अब मुझे आपके वर की चाह नहीं है। मैं तो आप ही के साथ-साथ वनवासिनी बनूँगी। दशरथ बोले—प्रिये,

मैं तुम्हारी इच्छा का बाधक नहीं होता। जैसा तुम्हें अच्छा मालूम दे वही करो। परन्तु बात यह है कि मैं इस समय राजा हूँ, तुम अपना वर माँग लो, उसे मैं पूरा कर सकता हूँ। केकयी नीचा मुख कर दशरथ से बोली कि—नाथ, यदि आपका आग्रह है तो अस्तु, मुझे स्वीकार है। परन्तु बात यह है कि इधर तो आप चले और साथ ही पुत्र भी दीक्षा लेना चाहता है। ऐसी दशा में पति और पुत्ररहित होकर मैं अभागिनी अकेली ही रहकर क्या करूँगी? इसलिए यदि आप उचित समझते हैं तो अपना राज्य भरत को और रामचन्द्र को वनवास दीजिए। केकयी की यह बुरी वासना सुनकर दशरथ ने विचारा कि, यदि इस समय भरत को राज्य नहीं देता हूँ, तो मेरे वचनों में कलंक लगता है और भरत को राज्य दे भी दिया जाये तो कुछ हानि नहीं, परन्तु मुझसे यह कैसे कहा जा सकेगा कि रामचन्द्र, तुम अब वनवास सेवन करो, यह राज्य भरत को दिया जायेगा। ये दोनों ही बातें विरुद्ध हैं। अब मुझे क्या कर्तव्य है? बेचारे दशरथ को इस कठिन प्रश्न ने किंकर्तव्यविमूढ़ बना दिया। उनसे कुछ भी कहना न बना। वे बड़े दु:खी हुए। इतने में वहीं रामचन्द्र आ गये। उन्होंने पिताजी के मुख को निष्प्रतिभ देखकर मन्त्रियों से पूछा कि—आज पिताजी चिन्तित से क्यों दीख पड़ते हैं? उत्तर में मन्त्रियों ने कहा कि—शायद तुम्हें स्मरण होगा कि स्वयंवर के वक्त महाराज ने केकयी को वर दिया था। सो आज उनका दीक्षा लेना सुनकर महारानी ने अपना वर महाराज से माँगा है। वे कहते हैं कि यह राज्य भरत के लिये दिया जाकर राजचन्द्र को वनवास दिया जाये। अब इसमें कर्तव्य क्या है? इसी की चिन्ता से महाराज दु:खी हो रहे हैं। इनका हृदय चिन्ता के समुद्र में डूब रहा है। सुनकर रामचन्द्र ने बड़ी ही धीरता के साथ

यह कहा—क्या यही छोटी सी चिन्ता महाराज के दु:ख की कारण है? यह तो कुछ भी बात नहीं है। इसके लिये इतनी चिन्ता करना उचित नहीं है। मेरी समझ में तो यही उचित जान पड़ता है कि पिताजी को अपने वचन पूरे करने के लिये माता केकयी के कहे अनुसार भरत को राज्य देना चाहिए और मेरे लिये जो माता की आज्ञा हुई है, उसका मैं पालन करने को तैयार हूँ। क्या आप यह नहीं जानते कि—संसार में वे ही पुत्र कहलाने योग्य हैं, जो पिता के पूर्ण भक्त हों, और जिन्हें अपने पिता के वचनों का सदा ख्याल रहता हो। वे पुत्र नहीं हैं, जो अपने पिता की आज्ञा का पालन नहीं करते हैं। जो हो, मैं तो प्राणपण से पिताजी के वचनों के पूरे होने की कोशिश करूँगा। इतना कहकर रामचन्द्र ने उसी समय भरत के ललाट में राज्यतिलक कर दिया, और स्वयं पिताजी के चरणों को नमस्कार कर लक्ष्मण को अपने साथ ले, वहाँ से चल दिये। पुत्र की यह अश्रुतपूर्व धीरता दशरथ न देख सके। उन्हें पुत्र के रवाना होते ही मूर्च्छा आ गयी।

रामचन्द्र वहाँ से चलकर अपनी माता के पास पहुँचे और नमस्कार कर उसके सामने बैठ गये। बाद में उन्होंने माता से प्रार्थना की कि—माता, पिताजी के वचनों का पालन करने के लिये हम विदेश जाते हैं। जब हम अपनी कहीं सुव्यवस्था कर लेंगे, तब तुम्हें भी लिवा ले जावेंगे। इसलिए तुम किसी तरह का दु:ख न करना। इस प्रकार माता को समझा–बुझाकर वे दोनों भाई घर से बाहिर हो पतिप्राणा सीता को साथ लिये हुए जंगल की ओर रवाना हुए। यह देख बहुत से प्रजा के लोग भी रामचन्द्र के साथ हो गये। ठीक है, अपने युवराज का अगाध प्रेम उन्हें यो अकर्मण्य कैसे बैठने देता। रामचन्द्र ने उन्हें बहुत रोका, परन्तु सुने कौन? सब उनके पीछे–पीछे

ही चले जाते थे। कुछ दूर चलकर इन्हें एक अन्धकारमय अटवी मिली। वहीं पर बड़ी भारी और गहरी नदी बह रही थी। राजचन्द्र और लक्ष्मण तो सीता को लेकर जल्दी नदी के पार हो गये, परन्तु और लोगों के लिये यह असम्भव हो गया। अगत्या उन्हें उदास होकर वापिस घर की ओर लौट आना पड़ा। इसे छोड़कर वे कर ही क्या सकते थे? जब भरत ने सब लोगों के साथ रामचन्द्र को न आये हुए देखे, तब उन्हें बड़ा दु:ख हुआ। वे उसी वक्त माता के पास जाकर बोले कि—माता, बिना रामचन्द्र के मैं किसी तरह राज्यपालन नहीं कर सकता। सो या तो उन्हें वापिस लाने का उपाय करो, नहीं तो मैं भी जाकर दीक्षा ग्रहण करता हूँ। आगे जैसा उचित समझो, वैसा करो। मुझे जो कहना था, वह कह चुका। पुत्र के आश्चर्य भरे वचन सुनकर उसे बहुत कुछ चिन्ता हुई। वह उसी वक्त उठी और पुत्र तथा और भी कितने अच्छे-अच्छे पुरुषों को साथ लेकर रामचन्द्र के पास जा पहुँची। रामचन्द्र अपनी माता का आना सुनकर कुछ दूर तक उसके सामने गये और उसके चरणों को नमस्कार किया। भरत रामचन्द्र को देखते ही उनके पावों में गिर पड़े और गदगद होकर बोले कि—महाराज, मुझ दास पर दया कीजिए। क्या आप इन स्त्रियों के चरित से अपरिचित हैं? इन्हीं के द्वारा गाढ़ से गाढ़ प्रेम क्षणमात्र में नष्ट हो जाता है। यह जाति बड़ी विषैली है। मुझे बड़ा आश्चर्य है कि आप क्यों इनके मायाजाल में फँस गये? क्या केवल माता के वचनों को मानकर आपको यह करना उचित है? नहीं। स्वामी, मुझ पर कृपा कीजिये। आप चलकर अपना राज्य सम्हालिये। यह राज्यशासन आप ही को शोभा देगा। आप सिंहासन को अलंकृत कीजिये। लक्ष्मण आपके मन्त्रित्व का काम करेंगे। मैं आपके ऊपर छत्र लगाऊँगा और शुत्रघ्न चँवर डुलावेगा। नाथ, यदि

अब भी आप कृपा करके अयोध्या की ओर गमन न करेंगे, तो निश्चय समझिये कि मैं भी वहाँ नहीं ठहरूँगा। आपके बिना राज्य से मुझे कुछ प्रयोजन नहीं है। उत्तर में रामचन्द्र ने कहा — भाई, तुम यह न समझो कि मैंने माता से द्वेष करके वन में जाना विचारा है। किन्तु मुझे तो पिताजी के वचनों का पालन करना है। मैं प्राणपण से उनके वचन पूरे करूँगा। इसलिए पीछे किसी तरह नहीं लौट सकता। तुम जाओ और बारह वर्षपर्यन्त प्रजापालन करो। तब तक मैं इधर नहीं आने का। भरत यह सुनकर बड़े खेदित हुए। उन्होंने रामचन्द्र से चलने के लिये बहुत कुछ आग्रह करना आरम्भ किया। यह देख रामचन्द्र से न रहा गया। उन्होंने अन्त में कुछ कठोरता लिये कहा कि — भरत, पिताजी ने तुम्हें बारह वर्ष तक राज्यशासन करने की आज्ञा दी है, इसका मुझे बहुत आनन्द है। इसके सिवाय मैं अपनी ओर से और भी दो वर्ष के लिये तुम्हें राज्य देता हूँ। चौदह वर्ष पूर्ण होते ही मैं इधर आ जाऊँगा। इसके पहिले आने की मैं प्रतिज्ञा करता हूँ। यदि तुम मेरे पीछे आने की इच्छा रखते हो, तो अपने आग्रह को छोड़ दो और जाकर राज्यपालन करो। अन्यथा इसका परिणाम अच्छा न होगा। यह देखकर मन्त्रियों ने भरत को समझाया कि अधिक आग्रह में कुछ लाभ नहीं दीख पड़ता। बस, आप अब चुप साध जाइये। नहीं तो ऐसा न हो कि कुछ का कुछ हो जाये। यद्यपि रामचन्द्र के अन्तिम उत्तर से भरत को बहुत दु:ख पहुँचा, परन्तु निरुपाय हो उन्हें उनका कहना मानना पड़ा। इसके बाद भरत रामचनद्र को नमस्कार कर पीछे लौट आये। भरत राज्य तो करने लगे, परन्तु उनका चित्त सदा रामचन्द्र में लगा रहता था। इससे वे सदा दु:खी से बने रहते थे।

भरत के चले जाने पर रामचन्द्र भी वहाँ से रवाना होकर धीरे-धीरे चित्रकूट पर्वत पर आ पहुँचे। यहाँ कुछ विश्राम करके मालवदेश की ओर रवाना हुए और रास्ते में उन्होंने धर्मात्मा वज्रजंघ की शत्रु से रक्षा की। इन्होंने और भी बहुत से अच्छे-अच्छे काम किये, जिनसे इनकी बहुत प्रसिद्धि हो गयी। वहाँ से भी रवाना होकर ये आगे चले। रास्ते में वनमाला आदि बहुत सी राजपुत्रियों के साथ लक्ष्मण का विवाह हो गया। कुछ दिन तक बराबर चलकर ये दोनों भाई वंशगिरि नामक पर्वत पर आये। यहाँ पर श्री देशभूषण और कुलभूषण मुनिराज विराज रहे थे। उन्हें ध्यान में बैठे हुए देखकर उनका कोई पूर्वजन्म का शत्रु उन पर घोरतर उपद्रव कर रहा था, सो इन्होंने अपने बल से मुनि का उपद्रव दूर किया। ये दोनों भाई कुछ समय तक तो वहाँ ठहरे, इसके बाद वहाँ से भी चलकर दण्डकवन में आये। वन बड़ा भयावह हो रहा था। एक वक्त तो उसके भीतर घुसने की काल की भी हिम्मत नहीं पड़ती थी। उसकी कुछ परवाह न कर ये दोनों भाई उसी के भीतर ठहरे।

कुछ दिन चढ़ चुका था। लक्ष्मण भोजन की फिकर में लगे। भोजन की सामग्री इकट्ठी की गयी। सीता ने थोड़ी ही देर में भोजन तैयार कर अपने स्वामी से कहा—प्राणनाथ! अब आप पूजन कीजिए, दिन अधिक चढ़ा जाता है। उसके कहे अनुसार रामचन्द्र जिनभगवान की पूजन कर अतिथिसंविभाग के लिये सुपात्र की प्रतीक्षा करने लगे। भाईयो! पुण्य सब जगह साथ ही बना रहता है। ठीक, इसी नीति के अनुसार रामचन्द्र के पुण्य के प्रेरे हुए एक महीने के उपवास से एक मुनिराज वहीं आ उपस्थित हुए। रामचन्द्र ने मुनिराज के पवित्र दर्शन कर अपने नेत्रों को पवित्र किये और बाद तीन प्रदक्षिणा देकर कहा कि—स्वामी! ठहरिये! ठहरिये!!

ठहरिये!!! इस प्रकार प्रार्थना कर प्रासुक जल से उनके चरणकमल धोये और उस पवित्रजल को अपने मस्तक पर लगाया। उसी जगह एक वृक्ष की डाली पर जटायु नाम का पक्षी बैठा हुआ था। उसने रामचन्द्र की, की हुई क्रिया को देखकर विचारा कि—हाय! धिक्कार है, मेरे इस जीवन को जो मुझे पशुपर्याय मिली। अहा! ये दोनों भाई कितने पुण्यात्मा हैं, जो इन्हें ऐसे महात्मा की सेवा करने का आज अवसर मिला है। और यह स्त्री भी बड़ी ही सौभाग्यवती है, जो मुनिराज की परिचर्या में इतनी भक्ति कर रही है। हाय! मैं बड़ा ही अभागा हूँ, जो मुझे यह पशुगति मिली। यदि आज मैं भी इनकी तरह मनुष्य होता तो, क्या आज इस अपूर्व अवसर को जाने देता? मैं मारा गया। हे प्रभो! यदि कभी मुझे भी पुण्य प्रभाव से मानवपर्याय प्राप्त हो, तो मैं भी नियम से ऐसे महात्माओं की बड़ी भक्ति से सेवा करूँगा। इसी प्रकार के पवित्र विचार उसके हृदय में लहरें लेने लगे।

रामचन्द्र और सीता ने नवधा भक्ति से मुनि को आहार दिया। आहार हो चुकने के बाद जब मुनि वहाँ पर बैठे, तब रामचन्द्र ने उन्हें नमस्कार कर पूछा—स्वामी, यह स्थान इस प्रकार सूनसान कैसे हो गया है? और क्यों इसका नाम दण्डकवन पड़ा है? मुनि बोले—इस देश के राजा का नाम था दण्डक। वह बड़ा तेजस्वी था। उसकी सारी पृथ्वी में प्रसिद्धि हो रही थी। किसी समय उसके राज्य में बहुत से दिगम्बर मुनि आये। पापी दण्डक ने उनके नग्नरूप को देखकर उनसे बड़ी घृणा की और इसी घृणा के कारण उसने उन सब मुनियों को घानी में पेल दिये, जैसे तिल पेले जाते हैं। सच है, पापियों के हृदय में दया नहीं होती।

उन मुनियों में से एक मुनि संघ के बाहिर रह गये थे। जब वे

मुनि शहर के भीतर घुसने लगे, तब उन्हें लोगों ने भीतर जाने से रोक कर कहा कि—महाराज, यहाँ का राजा बड़ा ही दुष्ट और पापी है। उसने आपके साथी जितने मुनि थे, उन सबको घानी पिलवा दिये हैं। इसलिए आपसे प्रार्थना है कि आप शहर के भीतर न जावें। क्योंकि उसकी क्रूरता तो आप जान ही गये हैं। सम्भव है, आपकी भी वह वही हालत करे। मुनि साधुओं पर किये गये अत्याचार की बात सुनकर बड़े क्रोधित हुए। क्रोध के आवेश में आकर उन्होंने कहा कि, जिस निर्दयी पापी ने हमारे संघ की यह अवस्था की है, देखूँ, अब वह भी कैसे जीवित रह सकता है? इतना कहकर ही वे राजा के पास गये और उससे बोले कि—पापी! दुराचारी! तूने ही तो हमारे साधुओं को मरवाये हैं? देखूँ, अब तू अपना जीवन कैसे सुखपूर्वक बिताता है? इस विषम कोप के साथ ही उनके कन्धे से एक पुरुषाकार तेजस्विनी मूर्ति निकली और देखते-देखते उसने मनुष्यों को, पक्षियों को, पशुओं को, राजा को और साथ ही उन मुनि को भी क्षणमात्र में जलाकर भस्म कर दिये। राजा ने जैसा कर्म किया था, उसका वैसा ही उसे प्रायश्चित भी मिल गया। वह वहाँ से मरकर नरक में गया। वहाँ उसने नाना प्रकार के छेदन, भेदनादि घोर दु:ख भोगे। नरकस्थिति पूर्ण कर वह राजा का जीव यह जटायु हुआ है। यह तो इस स्थान के सूनसान होने का कारण है और इसके राजा का नाम दण्डक होने से इसका नाम दण्डकवन पड़ा है। यह सब मुनि के शाप का फल है। सच है, जो जैसा कर्म करता है, वैसा ही उसका उसे फल भी मिलता है।

मुनि के द्वारा अपना पूर्वजन्म का हाल सुनकर पक्षी को बड़ा दु:ख हुआ। वह मूर्च्छित होकर धड़ाम से पृथ्वी पर गिर पड़ा। उसे

पृथ्वी पर गिरा हुआ देखकर सीता को बहुत दया आयी। उसने उठकर उसी समय पक्षी के ऊपर ठण्डा जल छिड़का। उससे उसकी मूर्च्छा कुछ दूर हो गयी। सचेत होते ही पक्षी मुनि के पास गया और उनके चरणों में नमस्कार कर अपनी मातृभाषा में बोला कि—हे नाथ, मुझ अनाथ पशु पर भी दया करो, जिससे मैं संसार के दु:खरूपी समुद्र से पार हो सकूँ। मेरा चित्त संसार से अब बहुत ही उदासीन हो रहा है। मुनि के जटायु की दु:ख दशा पर विचार कर उसे सम्यक्त्व ग्रहण करने का उपदेश दिया। जटायु ने मुनि के कहे अनुसार पाँच अणुव्रत स्वीकार किये और जीवों की हिंसा करना छोड़कर धर्म के सेवन में अपना मन लगाया। सीता यह देखकर कि, उसने जीवों की हिंसा करना छोड़ दी, अब उसकी जीवन वृत्ति होना मुश्किल है, स्वयं उसका पालन पोषण करने लगी। इसके बाद मुनिराज भी उपदेश देकर इच्छानुसार विहार कर गये और रामचन्द्र वहीं निर्भयतापूर्वक ठहरे।

सन्ध्या के समय लक्ष्मण यह देखने के लिये कि, इस वन में कहीं हिंस्र जीवों का निवास तो नहीं है—निकले। वे निर्भयता से आगे बढ़े चले जाते थे कि इतने में कहीं से हवा के साथ–साथ सुगन्धि आयी। लक्ष्मण भी जिधर से सुगन्धि आती थी, उधर ही मुड़े। थोड़ी दूर जाकर उन्होंने देखा कि एक गहन बाँस के बीहड़ के ऊपर सुन्दर खंग लटक रहा है और उसके ऊपर चन्दनादि सुगन्धित वस्तुओं का लेपन किया हुआ है। वह अनेक तरह के सुगन्धित फूलों से सजा हुआ है। उसका नाम चन्द्रहासखंग है। वह इन्द्र के हाथ से आया हुआ है। इतना कहकर गौतम भगवान ने इसी कथा से सम्बन्ध रखनेवाली दूसरी कथा कहनी आरम्भ की।

एक अलंकारपुर नामक शहर था। उसका राजा खरदूषण था।

इसकी स्त्री का नाम सूर्पनखा था। वह रावण की बहिन थी। इनके शम्बूक नाम का पुत्र था। वह बहुत सी विद्या का जाननेवाला था। यही शम्बूक इस दुर्गम बाँस के बीहड़ में चन्द्रहास खंग के सिद्ध करने को मन्त्र साधन कर रहा था। परन्तु निर्बल पुरुषों के लिये मन्त्र सिद्ध करना जरा कठिन है। यद्यपि उसका हृदय निर्बल था, तो भी उसने बारह वर्ष तक एक दिन उपवास और एक दिन कोदु तथा जल लेकर पूर्ण किये। क्योंकि गुरु ने इसके सिद्ध होने की अवधि बारह वर्ष की बतलायी थी। गुरु ने मन्त्रसाधन का उपदेश देते वक्त उसे इतना और समझा दिया था कि जब खंग उतर आवे, तब भी तुम उसे सात दिन और भी हाथ में नहीं लेना। आठवें दिन पहले ही जिन भगवान की पूजा करना और फिर खंग को नमस्कार कर हाथ में लेना। शम्बूक गुरु से मन्त्र सीखकर उसे सिद्ध करने को वन में गया, और वहाँ एकान्त स्थान मैं बैठकर मन्त्र सिद्ध करने लगा। सो खंग को आये हुए अभी पूरे सात ही दिन बीतने पाये थे कि आज ही लक्ष्मण इधर आ निकले। खंग को बाँस के बीहड़ पर लटका हुआ देखकर उन्होंने उसे कौतुक से हाथ में ले लिया और चलाना चाहा। उन्हें न तो यही मालूम था कि इस बीहड़ में कोई ध्यान लगाये हुए बैठा है और न खंग की शक्ति का परिचय था। सो खंग के चलाते ही निमिषमात्र में वह सारा बाँस का बीहड़ और उसके साथ शम्बूक भी कटकर गिर पड़ा—इसके बाद वह खंग लक्ष्मण के हाथ में वापिस आ गया। खंग लेकर लक्ष्मण वहाँ से चल दिये और कहीं और वन में जाकर ठहर गये। कुछ देर के बाद ही आहार के लिये सामग्री लेकर शम्बूक की माता सूर्पनखा भी आ पहुँची और वह वन को बिलकुल साफ देखकर विचारने लगी कि—जाना जाता है, पुत्र ने खंग के सिद्ध होने की परीक्षा की है।

जीवों का नाश कर आज उसने क्रूरता धारण की है। पुत्र को मन्त्रसिद्धि हुई समझकर वह बहुत खुश हुई। परन्तु जब वह नीचे उतरी और पुत्र के मस्तक को धड़ से जुदा देखा, तब उसे बड़ा दु:ख हुआ, परन्तु फिर भी भ्रम से वह यह समझ कर कि शायद पुत्र ने यह अपने मन्त्र की माया फैलाई है, जल्दी से पुत्र के पास आकर कहने लगी कि—पुत्र! उठो! उठो!! क्या तुम्हें मुझ ही से मायाचार करना उचित है? तूने विद्या के सिद्ध करने में बहुत दिन बिताये हैं, अब तो उठकर मेरे गले से लग जा। मंगलमय दिन में इस प्रकार अमंगल करना उचित नहीं है। अथवा क्या तूने अपनी माता की परीक्षा के लिये यह भयंकर कृत्य किया है? जो कुछ हो, प्यारे पुत्र! इस समय तुझे ऐसा करना उचित नहीं है। तू मेरे दु:ख की ओर तो जरा देख कि आज बारह वर्ष हो गये, मैंने अपने हृदय के एक टुकड़े को किस दु:खदशा में छोड़ रखा है? पुत्र, दया कर और अपनी यह सब माया समेट, जल्दी उठकर मुझे सुखी कर। पुत्र से बहुत देर तक इसी तरह सूर्पनखा प्रार्थना करती रही, परन्तु पुत्र उसी हालत में पड़ा रहा। अन्त में उसने पुत्र को मरा समझा। वह निराश होकर और अपने प्यारे पुत्र के मस्तक को अपनी गोद में रखकर रोने लगी। छाती कूटने लगी। उसे अपार दु:ख हुआ। सच है, कहाँ तो पुत्र के अभ्युदय की आशा और कहाँ अचानक उसकी मृत्यु! ऐसी हालत में किस माता को पुत्र का असह्य शोक नहीं होता?

हा! बेटा, तू अपनी दु:खिनी माता को छोड़कर अकेला कहाँ चल बसा? हाय! तूने विद्या के साधन में इतने दिन तक कठिन से कठिन दु:ख सहे थे। मैं आज ही के लिये तो इतनी आपत्तियाँ सह रही थी। तेरा विषम वियोग मैंने आज लों सहा। हाय! क्या यह

सब इसी दारुण दु:ख देखने के लिये सहा था, जो आज भी तेरे पवित्र दर्शन मेरे भाग्य में नहीं। हाय! ऐसे निर्जन जंगल में मेरे प्राणों से भी प्यारे पुत्र की यह दशा किस दुरात्मा पापी ने की है? हाय! पुत्र, किस निर्दयी के हाथ तेरे सुकोमल शरीर पर इस कठोरता के साथ चले हैं? वह मनुष्य नहीं चाण्डाल है, जिसने मेरे निरपराध पुत्र को मारा है। अरे पापी! निर्दयी!! जरा तो मुझ अनाथिनी पर दया करता, जो मैं एक बार तो पुत्र से प्रेमालाप कर लेती। हे सुन्दराकार! हे महाबाहो! हे प्राणों से प्यारे पुत्र! हे चन्द्रमुख! तू तो अभी निरा बालक ही था। तुझे दैव ने अपना ग्रास किसलिए बनाया? हे जीवन के अवलम्ब पुत्र! आज तेरे बिना यह दु:खमय मेरा जीवन कैसे पूरा होगा? हाय! पुत्र, नहीं मालूम मुझ अभागिनी ने पूर्व जन्म में किस सती साध्वी के पुत्र का वियोग किया, जिससे आज मुझे भी यह भीषण यन्त्रणा भोगनी पड़ी है। इसी तरह बहुत देर तक वह विलाप करती रही। अन्त में जब कुछ शोक का आवेग कम हुआ, तब उसने सोचा कि—अब रोने ही से क्या होगा? जिस पापी दुराचारी ने मेरे पुत्र की दशा की है, अब तो उसी की शोध लगाकर उसे भी इसी दशा पर पहुँचाने की कोशिश करूँ। जिससे कुछ मुझे सन्तोष हो। इतना कहकर पुत्र के सिर को तो पृथ्वी पर रखा और आप पुत्र वैरी के ढूँढ़ने को निकली। थोड़ी दूर ही वह पहुँची होगी कि उसने एक सुन्दर और जवान पुरुष को एक स्थान पर बैठा हुआ पाया। पाठक जान गये होंगे कि, ये बैठे हुए और कोई नहीं लक्ष्मण हैं। सूर्पनखा उनका सुन्दर रूप देखकर आपे में न रह सकी। उसके हृदय में काम ने अपना निवास जमाया। लक्ष्मण के हाथ में खंग भी मौजूद था, इससे उसने यह तो अच्छी तरह समझ लिया कि, मेरे पुत्र को इसी ने मारा है, इसमें किसी तरह का सन्देह नहीं है। परन्तु मेरा

हृदय तो इसकी सुन्दरता पर विरोध करना नहीं चाहता है। दूसरे यह भी है कि पुत्र तो मर ही चुका है, वह अब पीछा आने का नहीं, तब फिर इससे शत्रुता करके ही क्या होगा? किन्तु सार तो इसमें है कि यदि यह मेरा स्वामी हो जाये, तो क्या ही अच्छा हो? और तभी मेरा जीवन सुखमय हो सकता है। यह विचारकर उसने उसी वक्त अपने वेष को पलटकर युवती बालिका का रूप बनाया। मानों ठीक सोलहवर्षीया बालिका है। सूर्पनखा बालिका बनकर लक्ष्मण के पास आयी और रोने लगी। लक्ष्मण ने उसे रोती हुई देखकर कहा कि, बालिके! तू कौन है? क्यों ऐसे सूनसान वन में आयी और किसलिए रोती है? बालिका बोली कि—मैं छोटी ही अवस्था में अपने मामा के यहाँ आ गयी थी। मेरा पालन पोषण मामाजी ने ही किया है। ज्यों-ज्यों मैं कुछ बड़ी होने लगी, मुझे ज्ञात हुआ कि मामाजी जो मुझे पालते हैं, उनका अभिप्राय मेरे विषय में कुछ और ही है। अर्थात्-मेरे ऊपर उनकी नियत अच्छी नहीं है। यह सब हाल किसी तरह मैंने अपने पिता के पास पहुँचा दिया। पिताजी उसी समय मुझे लिवाने को आ गये। मैं उनके साथ अपने घर पर जा रही थी। रास्ते में इसी जगह विश्राम करना पड़ा। कुछ रात बाकी थी कि, हम उठकर चले। परन्तु खेद है कि चलते-चलते पिताजी तो कुछ आगे निकल गये और मैं रास्ता भूल गयी। अब मैं नहीं जानती कि घर का रास्ता किधर है? और न पिताजी ही अभी तक मुझे लिवाने को आये हैं। इसी कारण मुझे ऐसे स्थान पर ठहर जाना पड़ा है।

आज मेरा बड़ा भारी भाग्योदय है, जो मुझे आप सरीखे पुण्य पुरुष के दर्शन हुए। हे सुन्दरस्वरूप, आपके इस कामदेव सरीखे रूप पर मेरा यह तुच्छ हृदय न्यौछावर हुआ जाता है। बहुत उत्तम

हो, यदि मुझ अनाथिनी बालिका के साथ आप विवाहकर मुझे कृतार्थ करें। उत्तर में लक्ष्मण ने कहा कि—तुम कहती हो यह ठीक है, परन्तु मैं तुम्हें एक बात कहता हूँ—वह यह कि, मैं अपने बड़े भाई के होते हुए विवाह नहीं कर सकता हूँ। इसलिए तुम उन्हीं के पास जाकर उनसे अपने विवाह की प्रार्थना करो। तुम यह फिकर न करो कि, मैं सुन्दर हूँ, किन्तु मेरे भाई मुझसे भी कहीं अधिक सुन्दर हैं। तुम्हारी सुन्दरता के योग्य वे ही उचित जान पड़ते हैं। बालिका फिर बोली कि—आपका कहना ठीक होगा इसमें सन्देह नहीं, परन्तु मैं तो जहाँ तक समझती हूँ, आपके समान ही वे होंगे। लक्ष्मण ने कहा—जब तक कि तुमने उन्हें देखा नहीं है, तभी तक ऐसा कहती हो, परन्तु जब उनके दर्शन करोगी तब मेरे कहने पर विश्वास आवेगा कि मुझमें और उनमें कितना फर्क है? मेरे कहने का विश्वास करो कि, मुझमें और उनमें सुमेरुपर्वत और सरसों के इतना अन्तर है।

लक्ष्मण के कहे अनुसार सूर्पनखा रामचन्द्र के पास गयी और उनसे बोली कि, मुझे कुछ आपसे प्रार्थना करनी है, आप उसे सुन ले तो बड़ी कृपा हो। लक्ष्मणजी ने मुझे आपके पास भेजी है। मैं एक अनाथ बालिका हूँ। दया करके मुझसे आप विवाह कर लें। आपके प्रेम ने मुझे यहाँ लाकर पटकी है। उसका काम भरी कथा सुनकर रामचन्द्र बोले कि—बालिके, पहले तुम यह तो कह जाओ कि लक्ष्मण से तुमने क्या-क्या कहा था? यह कहने लगी कि—मैं अपने घर का रास्ता भूलकर उधर जा पहुँची जहाँ लक्ष्मण बैठे हुए थे। उनके सुन्दर रूप को देखकर मैं उन पर मुग्ध हो गयी। उस समय मैंने यह विचार कर कि अभी मैं कुँवारी हूँ, इनके साथ मेरा विवाह हो जाने में कोई हानि नहीं है, उनसे अपने विवाह के लिये

प्रार्थना की। तब वे बोले कि—तुम हमारे बड़े भाई के पास जाकर उनसे अपनी प्रार्थना करो। मुझे अभी अवकाश नहीं है। उनके कहे अनुसार मैं आपके पास आयी हूँ। आशा है कि आप मुझ अनाथिनी बाला को आश्रय देकर कृतार्थ करेंगे। रामचन्द्र ने उसके उत्तर में कहा कि—तुम्हारा कहना ठीक है, परन्तु अब तुम मेरे योग्य नहीं रहीं। कारण कि—तुम पहले लक्ष्मण के साथ अपने विवाह की इच्छा कर चुकी हो। तुम मेरे भाई की स्त्री हो चुकी, इसलिए तुम अब भ्रातृजाया (भाई की बहू) कहलाने के योग्य हो। तुम लक्ष्मण के ही पास जाओ। रामचन्द्र के कहने से वह फिर लक्ष्मण के पास गयी और जो कुछ रामचन्द्र ने उससे कहा था उसे लक्ष्मण को सुना दिया। लक्ष्मण ने कहा—जब कि तुमने हमारे बड़े भाई से अपने विवाह की इच्छा की है, तो अब तुम मेरे योग्य भी नहीं रहीं। यह बात सभी जानते हैं कि बड़े भाई की स्त्री माता के समान होती है। इसलिए तुम भाई के पास ही जाकर उनसे अपनी इच्छा पूरी करो। गर्ज यह कि, काम से पीड़ित होकर वह कई बार रामचन्द्र के पास गयी और कई बार लक्ष्मण के पास। सच है—जो काम के वश हो जाता है फिर उसे अपने आपे का भी ख्याल नहीं रहता है। नकली सूर्पनखा की यह दशा देखकर उससे सीता ने कहा कि—तू बड़ी मूर्खा है। तुझे अपने आपे का भी ख्याल नहीं है। जरा विचार तो कर, कि कहीं काके के (कौए के) संसर्ग से मकान भी काला हुआ है? सीता के इस गहरे कटाक्ष को सुनकर उसे बड़ा क्रोध आया। वह यह कहती हुई कि, हाँ तुझे काक के संसर्ग से ही मकान को काला होता हुआ दिखलाऊँगी, चली गयी।

जाकर उसने ढोंग बनाया। शरीर में नखों से घाव कर लिये। केशों को बिखेर डाले और शरीर में खूब धूल रमा ली। इस प्रकार

अपने वेष को बिगाड़कर वह अपने पति के पास गई और मूर्च्छा खाकर पृथ्वी पर धड़ाम से गिर पड़ी। खरदूषण ने शीतलोपचार करके उसे सचेत की और उससे पूछा कि—प्यारी! आज यह क्या हुआ? क्यों इतनी काँप रही हो? जरा बताओ तो, किसने तुम्हारी यह अवस्था की है? मेरा हृदय तुम्हारी यह अवस्था सह नहीं सकता। जिस दुराचारी ने तुम्हारी यह अवस्था की है, समझो कि, आज उसे आठवाँ चन्द्रमा लगा है। सूर्पनखा बोली—प्राणनाथ! कुछ न पूछिये, आज जो मेरी हालत है, उसे मैं ही जानती हूँ। इतना कहते-कहते वह रोने लगी और छाती कूटने लगी। खरदूषण ने बहुत मुश्किल से उसे समझाकर उसके इस आकस्मिक दु:ख का कारण पूछा। वह बोली—स्वामी! दण्डकवन में दो मनुष्य ठहरे हुए हैं। हाय! उन पापियों ने—दुराचारियों ने—मेरा सर्वनाश कर डाला। मेरे प्यारे पुत्र को मार डाला। सुनते ही खरदूषण को भी बहुत क्रोध आ गया। उसे किसी तरह रोककर उसने आगे का हाल पूछा। वह कहने लगी कि—जब कि पुत्र की यह भयंकर दशा मैंने देखी, तब मेरा सब साहस न जाने कहाँ चला गया। मैं पुत्र मस्तक को अपनी गोद में रखकर रो रही थी कि उन पापियों ने से एक ने आकर मुझसे अपनी बुरी वासना जाहिर की। मैंने उस बुरी हालत में भी उसे बहुत धिक्कारा। इतने पर भी वह दुराचारी मुझसे बलात्कार करने लगा। मैं बड़ी ही कठिनता से अपने सतीधर्म की रक्षा करके आपके पास आ पायी हूँ। आज मैं अपने को बड़ी सौभाग्यवती समझती हूँ, जो मेरा धर्म सुरक्षित रह गया। यह सब आप ही के पुण्य का माहात्म्य है।

प्राणनाथ! बड़ी आश्चर्य की बात है, जो आपके रहते हुए भी मेरी यह दशा हो। उन पापियों की नीचता पर तो जरा विचार

कीजिये कि एक, आपके प्राण प्यारे पुत्र को उन्होंने मार डाला और दूसरे आपकी धर्मपत्नी की बुरी दशा करनी चाही। हे स्वामी! मुझसे इन रंकों के द्वारा किया हुआ यह घोर अपमान सहा नहीं जाता है। ऐसे अपमान को सहकर जीने से तो कहीं मर मिटना हजार गुणा अच्छा है। हे जीवनसर्वस्व! सन्तोष तो मुझे तब ही होगा जबकि इन पापियों के मस्तकों को पृथ्वी पर ठोकरें खाते अपनी आँखों से देखूँ और मैं भी उसे अपने पावों से ठुकराऊँ। उत्तर में खरदूषण ने कहा कि—प्रिये, इसकी चिन्ता तुम न करो। तुमसे अधिक कहीं मुझे दु:ख है। तुम महल में जाओ। मैं भी बदला लेने के लिये तैयारी करता हूँ। अपनी स्त्री को समझा-बुझाकर खरदूषण युद्ध के लिये तैयार हुआ। उसकी यह युद्ध की तैयारी देखकर उसके मन्त्रियों ने समझाया कि—महाराज! जरा धीरता रखिये। इतनी जल्दी से काम नहीं हुआ करता है। जरा विचारिये तो, जो खंग बारह वर्ष तपश्चर्या कर सिद्ध किया गया था, उसे एक समय मात्र में जिसने हाथ में ले लिया, क्या वह साधारण पुरुष है? नहीं। ऐसे महाबली पुरुष का जीत लेना भी साधारण काम नहीं है। इसलिए उचित तो यह है कि—यह खबर लंका के महाराज के पास भी भेज देनी चाहिए। भानजे के शोक से दु:खी होकर वे भी अपनी सहायता करेंगे। मन्त्रियों के कहे अनुसार खरदूषण ने यह सब हाल लंकाधीश के पास कहला भेजा।

उधर जब लक्ष्मण, रामचन्द्र के पास पहुँचे, तो उनसे रामचन्द्र ने कहा—क्यों समझे, वह कन्या कौन थी? मैं तो जहाँ तक समझता हूँ कि यह कोई राक्षसी अपने को देखने आयी थी। दोनों भाई तो परस्पर में इस कन्या के बावत बातचीत कर रहे थे कि इतने में पुत्रशोक से दु:खी होकर खरदूषण अपनी सेना को लेकर इन पर

लड़ने के लिये चढ़ आया। सीता आकस्मिक इतना भारी समारम्भ देखकर बहुत डरी। और भय की मारी स्वामी! स्वामी!! कहती हुई रामचन्द्र की गोद में जा गिरी। रामचन्द्र ने जब ऊपर दृष्टि उठायी, तब उन्हें भी कुछ सन्देह हुआ। उन्होंने धनुष की ओर आँख का संकेत करके लक्ष्मण से कहा—भाई, जल्दी तैयारी करो। देरी का समय नहीं है। ये लोग छली जान पड़ते हैं। इनके विचार बुरे जान पड़ते हैं। यह सुनकर लक्ष्मण ने कहा कि—स्वामी, आप किसी तरह की चिन्ता न करें। मैं इसी समय जाकर इन लोगों को इनके कर्तव्य का प्रायश्चित्त दिये देता हूँ। आप यहीं पर विराजे रहें। क्योंकि सीता को अकेली ऐसी जगह छोड़ना उचित नहीं है। एक और प्रार्थना है। वह यह कि—जब तक मैं वापिस न आ जाऊँ, तब तक आप यहीं रहें। यदि मुझ पर अधिक विपत्ति पड़ेगी, तो मैं सिंहनाद करूँगा, उस समय मेरी सहायता करने को आप आइयेगा। यह कहकर लक्ष्मण धनुष उठाकर युद्धभूमि की ओर चले। लक्ष्मण की धीरता ने विद्याधरों को चकित कर दिया।

युद्धभूमि में पहुँचते ही लक्ष्मण ने विद्याधरों की ओर दृष्टि उठाकर उन्हें ललकारा कि—हे विद्याधरो! ठहरो, कहाँ जाते हो? यदि कुछ वीरता रखते हो तो मुझे उसका परिचय दो। लक्ष्मण का तो इतना कहना था कि वे सब चारों से इसके ऊपर टूटे और लगे बाणों की वर्षा करने। सारी युद्धभूमि शरों से ढ़ँक गयी। परन्तु लक्ष्मण को कुछ भी हानि न पहुँची। लक्ष्मण कोई ऐसा वैसा साधारण मनुष्य तो था ही नहीं, जो इन लोगों से पराजित होता। यद्यपि वह एक ही था परन्तु फिर भी उसने हजारों विद्याधरों को सदा के लिये पृथ्वी में सुला दिये। खरदूषण की सारी सेना कर्तव्यहीन हो गयी थी। शत्रु सेना के एक साथ आनेवाले हजारों

शरों को अकेला लक्ष्मण रोक देता था। इस तुमुल युद्ध में शत्रु की सेना में एक विराधित नामक विद्याधर भी था। उसने लक्ष्मण को अकेला ही लड़ता हुआ देखकर विचारा कि—खरदूषण मेरा शत्रु है। क्योंकि इसी पापी ने मेरे पिता का वध किया था। परन्तु उस समय मुझमें शक्ति के न होने से मुझे शत्रु की ही सेवा करनी पड़ी थी। इस समय बड़ा अच्छा अवसर मिला है। अब यदि पिता का बैर निकाला जाये, तो बहुत अच्छा हो। यह बड़ा वीर है। इसकी सहायता से मेरी इच्छा पूर्ण हो जायेगी। यह विचार कर वह अपनी सेना को लेकर लक्ष्मण के पास गया और उसे नमस्कार कर बोला—हे स्वामी, मैं आपकी सेवा करने के लिये आया हूँ। पापी खरदूषण ने मेरे पिता को मार डाला है। उसके बदले की इच्छा से ही मैं आपके पास सहायता के लिये आया हूँ। आये हुए को सहायता देना आप सरीखे उत्तम पुरुषों का कर्तव्य है। उत्तर में लक्ष्मण ने कहा कि—इसकी तुम चिन्ता न करो। मुझे एक बात तुमसे पूछना है। वह यह कि—तुम मुझे धोखा देने को तो नहीं आये हो? अस्तु आये भी हो, तो मुझे उसकी कुछ परवाह नहीं है। मैं तुम्हारी सहायता करूँगा। उत्तर में विराधित ने कहा कि—महाराज, यह ख्याल कभी नहीं करें। मैं शपथपूर्वक कहता हूँ कि मैं आपके पास बुरी नियत से नहीं आया हूँ। मुझे तो अपने पिता का बदला लेना जरूरी है। बस यही कारण मेरे आने का है। महापुरुष, खरदूषण बहुत बली है, सो उसे तो आप जीतें और बाकी सेना के लिये तो मैं अकेला ही बहुत हूँ। यह कहकर विराधित तो खरदूषण की सेना से लड़ने लगा और लक्ष्मण की खास खरदूषण से मुठभेड़ हुई। विराधित ने जैसा कहा था, उसके अनुसार उसने खरदूषण की सेना अपने वश कर ली और लक्ष्मण ने खरदूषण को जीत लिया।

जब खरदूषण की पराजय का हाल रावण को मिला, तो वह उसी समय पुष्पक-विमान में बैठकर खरदूषण की सहायता के लिये रवाना हुआ। रास्ते में आते समय दण्डकवन में उसे अकेली बैठी हुई सीता दिख पड़ी। उसके अनुपम सौन्दर्य ने आज त्रिखण्ड के राजा और राक्षस कुलभूषण वीर रावण तक को अपने वश में कर लिया। उसने उसके लाने के लिये बहुत उपाय किये, परन्तु एक भी उपाय उसका चल नहीं सका। अन्त में उसने अपनी विद्या को उसके लाने को भेजी। विद्या गयी भी, परन्तु वह भी कुछ नहीं कर सकी। रामचन्द्र सरीखे तेजस्वी पुरुश के सामने उसे निष्प्रतिभ होना पड़ा। वह आकर रावण से बोली कि—हे स्वामी, मेरी हिम्मत नहीं कि मैं सीता को रामचन्द्र के पास से उठा ला सकूँ। सुनकर रावण ने उससे कहा—अस्तु, तू नहीं ला सकती है तो न सही। यह बता कि वह कैसे लाई जा सकती है? और रामचन्द्र यहाँ से कैसे हट सकेंगे? विद्या बोली कि हाँ, इसका एक उपाय है। वह यह कि—युद्ध में से यदि लक्ष्मण सिंहनाद करें, तो रामचन्द्र उसे सुनकर वहाँ से अलग हो सकते हैं। तुम यहाँ से थोड़ी सी दूर जाकर सिंहनाद करो। उसे सुनकर रामचन्द्र अपने भाई का सिंहनाद समझकर लक्ष्मण के पास जावेंगे। रावण के कहे अनुसार विद्या ने सिंहनाद किया। उसे रामचन्द्र और सीता ने सुन लिया। सीता रामचन्द्र से बोली कि—स्वामी, देखिये तो लक्ष्मण सिंहनाद कर रहे हैं। आप उनकी सहायता के लिये पहुँचिये। मालूम होता है, लक्ष्मण संकट में हैं।

रामचन्द्र उसी समय वहाँ से रवाना हुए और सीता की रक्षा के लिये जटायु पक्षी को उसके पास छोड़ गये। थोड़ी देर में वे लक्ष्मण के पास पहुँच गये। उधर रावण इसी ताक में था कि कब रामचन्द्र

यहाँ से जावें और अब मेरा अभीष्ट पूर्ण हो। रामचन्द्र के जाते ही रावण सीता को अकेली बैठी हुई देखकर उठा ले चला, जैसे पक्षी माँस पिण्ड को ले जाता है। जटायु रोती हुई सीता को ले जाते हुए रावण को देखकर उसके ऊपर झपटा। और उसके पास पहुँचकर रावण के सारे शरीर को अपने तीखे–तीखे नखों से घायल करने लगा। यह देख रावण को बड़ा क्रोध आया। उसने उस बेचारे पक्षी को एक ऐसा जोर का थप्पड़ा मारा कि वह अधमरा होकर पृथ्वी पर धड़ाम से गिर पड़ा। यह घटना जाते हुए रत्नजटी नाम के एक विद्याधर ने देखी। उसने आकर रावण से कहा कि—हे नीच विद्याधर! बेचारी एक अबला स्त्री को कहाँ लिये जाता है? तुझे इस घोर कर्म के करते लज्जा नहीं आती। उस बेचारे से सीता का रोना न सहा गया। वह निरुपाय हो रावण से युद्ध करने लगा। अपने से एक छोटे से विद्याधर की ऐसी धृष्टता देखकर रावण को बड़ा क्रोध आया। उसने उसकी सब विद्यायें छीनकर उसे समुद्र में डाल दिया जैसे कोई कटे पक्ष का पक्षी डाल दिया जाता है। परन्तु उसका पुण्य प्रकर्ष खूब था, इसलिए वहाँ पर भी उसे स्थल मिल गया। वह अपने कुछ कपड़े एक बाँस में बाँधकर इस अभिप्राय से ऊपर ध्वजा के समान उड़ाने लगा, जिससे किसी आकाशमार्ग से आने–जानेवाले को इधर की नजर पड़ जाये।

उधर पापी रावण सीता को लिये जा रहा था। रोती हुई सीता ने उससे कहा कि—पापी! नीच!! तू मुझे ले जाकर क्या सुख भोग सकेगा? क्या तू नहीं जानता कि सब पाप तो एक ओर है और परस्त्री का सेवन का पाप एक ओर है। अर्थात् सब पापों में परस्त्री के सेवन का बहुत अधिक पाप होता है। रावण ने कहा—सुन्दरी! तू यों ही व्यर्थ रोकर अपने को क्यों खराब करती है? तुझे तो

आज अपना सौभाग्य समझना चाहिए, जो तुझ पर विद्याधरों के अधिपति की कृपा हुई। रामचन्द्र मनुष्य हैं। उनसे तुझे उतना सुख नहीं मिल सकता, जितना मेरे द्वारा मिल सकता है। मेरी अठारह हजार रानियाँ हैं, उन सबमें तुझे ऊँचा आसन दिया जायेगा। अर्थात्–मेरी तू पट्टरानी बनेगी। तेरे लिये बड़ी खुशी का दिन है। उसमें भी यदि तू रोती है, तो सचमुच तुझ सी अभागिनी संसार में कोई नहीं होगी। सुनकर रीता निडर होकर बोली—हे मूर्ख, हे दुराचारी, क्यों तू बुरी वासनाओं के द्वारा पापकर्म का बन्ध कर रहा है? रामचन्द्र मनुष्य हैं, रहो। इससे क्या? तू मनुष्य का माहात्म्य नहीं जानता, इसी से ऐसा कह रहा है। शायद तुझे अपने विद्याधर होने का अभिमान है। क्योंकि मनुष्य तो आकाश में नहीं उड़ सकते और तू आकाश में उड़ता है। परन्तु याद रख कि, आकाश में उड़नेवाला काक पृथ्वी पर चलनेवाले केसरी की समानता कभी नहीं कर सकेगा। सीता बहुत कुछ रोई, बिलखी। परन्तु दुष्ट रावण ने उस बेचारी को नहीं छोड़ी। ले जाकर लंका के बगीच में रख दी। वह प्रतिदिन उसके वश करने के उपाय करने लगा। परन्तु जिस सती साध्वी ने अपना चित्त अपने प्राण प्यारे के चरणों में समर्पित कर दिया है, उसके लिये यह कब सम्भव था कि वह अब दूसरे की अंकशायिनी हो? कभी नहीं। अब कुछ रामचन्द्र की कथा का सिलसिला छेड़ा जाता है—

जब रामचन्द्र लक्ष्मण के पास पहुँचे, तब वहाँ उन्होंने लक्ष्मण को अच्छी हालत में देखा। लक्ष्मण ने भी देखते ही रामचन्द्र से कहा—पूज्य, सीता को अकेली कहाँ छोड़ आये हो? रामचन्द्र ने कहा—भाई, मैं तो तुम्हारा सिंहनाद सुनकर ही चला आया हूँ। लक्ष्मण ने कहा—स्वामी, मैंने तो सिंहनाद नहीं किया। जाना

जाता है, यह किसी दुष्ट की चालाकी है। उसने सीता के ले जाने की इच्छा की है। आप जल्दी जाइये। कुछ अमंगल की सम्भावना दीख पड़ती है। मैंने इन सब विद्याधरों को अपने वश कर लिये हैं। अब मुझे सिंहनाद करने की क्या जरूरत थी? सुनते ही रामचन्द्र वापिस आये। आकर देखते हैं, तो सीता स्थान पर नहीं है। उन्होंने चारों ओर घूम–घूमकर देखा, परन्तु सीता का कहीं पता न चला। उन्हें एक जगह अधमरा जटायु पड़ा दिखा। उसकी मृत्यु शीघ्र होनेवाली समझकर उसे उन्होंने नमस्कार मन्त्र सुनाया। उसके फल से जटायु स्वर्ग में जाकर देव हो गया।

रामचन्द्र सीता के वियोग को न सह सके। मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। जब ठण्डी वायु का स्पर्श हुआ, तब कुछ–कुछ चेतना आयी। वे वियोग से इतने अधीर हो गये कि उन्हें अपने स्वरूप का भी भान नहीं रहा। वृक्ष और पर्वतों से अपनी प्यारी का हाल पूछने लगे। हे पर्वतों, मैं अपनी प्यारी अभी थोड़ी ही देर हुई होगी कि तुम्हारे पास छोड़ गया था। अब वह यहाँ नहीं दिखाई पड़ती, कहो तो किधर गयी है? इतने में रामचन्द्र के शब्द की प्रतिध्वनि हुई, उन्होंने समझा कि पर्वत ने मेरे प्रश्न का उत्तर दिया है। तब फिर रामचन्द्र ने कहा कि जब तुमने उसे देखी है, तो जल्दी बताओ कि वह किधर गयी है? मुझसे उसका वियोग सहा नहीं जाता है। बहुत कुछ उन्होंने इधर–उधर शोध की, परन्तु कहीं उसका पता नहीं चला। अन्त में वे फिर मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। सीता का वियोग उनके लिये वज्र के आघात का काम कर गया। इतने में ही लक्ष्मण और विराधित भी वहीं आ पहुँचे। लक्ष्मण अपने बड़े भाई की यह हालत देखकर समझ गये कि सीता नियम से हरी गयी है। लक्ष्मण ने पहुँचकर भाई की अभिवन्दना

की। परन्तु रामचन्द्र तो इस समय अपने आपे में ही न थे। उन्होंने लक्ष्मण से कहा कि—तू कौन है? और क्यों ऐसे भयानक जंगल में आया है? लक्ष्मण ने यह देख कहा कि—पूज्य, क्या मुझे अभी भूल गये? मैं तो आपका दास लक्ष्मण हूँ। सुनकर रामचन्द्र को कुछ स्मृति हो आयी। उन्होंने कहा लक्ष्मण! प्यारे लक्ष्मण!! सीता को कोई पापी ले उड़ा है। सुनकर लक्ष्मण को भी बहुत दुःख हुआ। दोनों मिलकर रोने लगे। विराधित ने उन्हें किसी तरह समझा-बुझाकर रोने से रोका। विराधित भी बड़ी चिन्ता में पड़ गया। उसे अपने उपकारकर्ता के ऊपर अनायास दुःख आने से बड़ा दुःख हुआ। यहीं पर विराधित से वानरवंशियों का स्वामी सुग्रीव आकर मिला और उसने अपने ऊपर बीती हुई सारी आपतति कह सुनाई। विराधित ने रामचन्द्र के दुःख का भी हाल उससे कह दिया। सुग्रीव ने कहा—विराधित, बात यह है कि यदि तुम्हारे स्वामी मेरा दुःख दूर कर देंगे, तो मैं भी उनकी स्त्री का हाल उन्हें जल्दी ला दूँगा। इस प्रतिज्ञा में कभी अन्यथापन न होगा। विराधित ने यह हाल रामचन्द्र से जाकर कहा कि—हे महाराज! वानरवंशियों का राजा और एक अक्षौहिणी सेना का स्वामी सुग्रीव आपके पास आया है। वह कहता है कि यदि रामचन्द्र मेरी स्त्री का दुःख दूर कर देंगे, तो मैं भी सातवें ही दिन उनकी प्यारी का हाल लाकर उन्हें सुना दूँगा। यदि आज्ञा हो, तो वह आपके पास उपस्थित किया जाये। रामचन्द्र के कहे अनुसार सुग्रीव उनके सामने उपस्थित किया गया। सुग्रीव के आने पर उसका रामचन्द्र ने यथोचित आदर किया। दोनों की परस्पर कुशलवार्ता हुई। इसके बाद सुग्रीव लक्ष्मण से मिला। इन दोनों के भी परस्पर में कुशल प्रश्न हुए।

जब सब स्वस्थचित्त हुए, तब रामचन्द्र ने सुग्रीव से पूछा कि—सुग्रीव, तुम्हें क्या दुःख है? सुग्रीव ने कहा कि—महाराज! मेरी राजधानी किष्किन्धा है। मेरी तारा नाम की स्त्री है। वह बड़ी खूबसूरत है। कोई दुष्ट विद्याधर उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो गया है। वह मुझ सरीखा रूप धारण कर मेरे घर में घुस गया है। मेरी प्रिया ने उसकी चाल ढाल से यह जानकर कि यह खास मेरा पति नहीं है, उसे घर में नहीं आने दिया। तारा के आशय को समझकर उस दुष्ट ने मेरे घर की जो-जो गुप्त बातें थीं, वे सब वैसी की वैसी कह सुनाई। सुनकर मेरी प्यारी ने उससे कहा—हे दुष्ट! हे दुराशय!! तूने सब बातें तो मेरे स्वामी के सरीखी कह दीं, परन्तु उनके सरीखा चलना तो अभी तक तुझे नहीं आया। इतना उसका कहना था कि उसने मुझे अपने घर आता हुआ देखकर मेरी चाल भी सीख ली! उस समय तारा ने बड़ी होशियारी की, जो मुझे और उसे एक सरीखा देखकर घर के किवाड़ बन्द कर लिये।

जब मैं अपने घर के द्वार पर पहुँचा, तब उस नकली सुग्रीव से कहा—पापी! तू कौन है? और किसलिए ऐसा छल बनाकर मेरे घर में घुसा चाहता है? उत्तर में मेरी तरह उसने भी जवाब दिया कि, तू मेरे घर में क्यों घुसा आता है? इतना कहकर लड़ा भी। यह विचित्र लीला देखकर मन्त्रियों ने दोनों को घर में घुसने से रोक दिया और कहा कि जब तक इस बात का निर्णय न हो जायेगा कि सच्चा सुग्रीव कौन है, तब तक किसी को हम घर के भीतर नहीं घुसने देंगे। हम दोनों ही घर बाहिर रहने लगे। मुझसे अपनी प्यारी का वियोग अधिक नहीं सहा गया, इसलिए मैं रावण के पास पहुँचा। परन्तु उसके द्वारा भी मेरा कुछ उपकार नहीं हुआ। इसकी जाँच करने को बहुत से विद्याधर और हनुमान आदि भी आये, परन्तु

किसी की बुद्धि भी इसका फैसला नहीं कर सकी। अन्त में सब ओर से निरुपाय होकर मैं आपकी सेवा में आया हूँ। मुझे आशा है कि आपके द्वारा नियम से मेरा दु:ख दूर हो सकेगा। आज मेरा बड़ा भारी पुण्य है, जो आप सरीखे महात्मा के पवित्र दर्शन हुए। महाराज, यही मेरी दु:ख कहानी है।

सुनकर रामचन्द्र ने कहा—सुग्रीव, घबराओ मत, मैं तुम दोनों की ठीक-ठीक जाँच करके निवटेरा कर दूँगा, और तुम्हारी प्रिया तुम्हें दिलवा दूँगा। मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि, मैं तुम्हारा कार्य करूँगा। इसके बाद तुम्हें भी अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करनी होगी। सुग्रीव ने रामचन्द्र के कहने को स्वीकार किया। इसके बाद सुग्रीव रामचन्द्र को अपनी राजधानी में लिवा ले गया और शहर के बाहिर उसने उन्हें ठहरा दिये। वहीं पर दूत भेजकर नकली सुग्रीव युद्ध के लिये बुलवाया गया। वह भी अपनी विशाल सेना को लेकर युद्ध के लिये आया। दोनों सुग्रीवों का युद्ध हुआ। सच्चा सुग्रीव मायामय सुग्रीव की गदा से मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। उसे उसके बन्धु अपने डेरे पर लिबा ले गये। मायामई सुग्रीव यह समझकर कि सुग्रीव मर गया है, आनन्द मनाता हुआ घर चला। जब सुग्रीव सचेत हुआ, तो उसने रामचन्द्र से कहा कि, महाराज, उस पापी को आपने क्यों जाने दिया? उत्तर में रामचन्द्र बोले—सुग्रीव, क्या कहें, तुम दोनों एक ही सरीखे थे, इसलिए निश्चय नहीं किया जा सका। कहीं धोखे में तुम्हारी मृत्यु हो जाती, तो बड़ा अनर्थ हो जाता। यही विचार कर हमने उसे छोड़ दिया। अस्तु, कुछ चिन्ता नहीं है। उसे फिर बुलवाते हैं। यह कहकर रामचन्द्र ने उसी नकली सुग्रीव को फिर युद्ध के लिये बुलवाया। वह फिर भी बड़ी हिम्मत के साथ लड़ने को युद्धभूमि में आया। अबकी बार जहाँ उसने

रामचन्द्र के दिव्य रूप को देखा कि—उसकी जो वैताली विद्या थी, वह तत्काल भाग गयी। नकली सुग्रीव का अब वह स्वरूप नहीं रहा। वह साहसगति विद्याधर के रूप में आ गया। यह देख सबने असली सुग्रीव को पहचान लिया। सबों ने उसका बहुत सत्कार किया। सुग्रीव अपने पुत्रादि के साथ घर पर गया और वियोग से कृश हुई अपनी प्यारी से मिला। रामचन्द्र की अपार कृपा से सुग्रीव के दु:ख के दिन गये और सुख का समय आया। वह अपनी प्यारी के साथ आनन्द भोगने लगा। उसे आनन्द करते छह दिन बीत गये। रामचन्द्र के साथ की हुई प्रतिज्ञा का उसे कुछ भी ख्याल नहीं रहा।

उधर जैसे–जैसे दिन बीतने लगे, रामचन्द्र का दु:ख अधिकाधिक होने लगा। उन्होंने एक दिन लक्ष्मण से कहा—लक्ष्मण! देखो तो संसार की अवस्था। जबकि मनुष्य को दु:ख होता है, तब तो वह उसकी निवृत्ति के बहुतेरे उपाय करता है। और सबकी खुशामद करता फिरता है परन्तु जब उसका काम निकल जाता है, फिर उसे किसी का ख्याल भी नहीं रहता। देखो सुग्रीव की बातें, जो अपना काम निकल जाने पर प्रतिज्ञा तक भूल गया। सच है, दूसरों के कार्य में सच्ची भक्ति बतानेवाला कोई विरला ही महात्मा होता है। यह सुनकर लक्ष्मण को सुग्रीव की इस स्वार्थबुद्धि पर बड़ा क्रोध आया। वे उसी समय सुग्रीव के घर पर जा पहुँचे। उन्हें देखते ही सुग्रीव बहुत घबराया। वह अपनी स्त्री का हाथ पकड़कर सिंहासन से नीचे उतरा और लक्ष्मण को उस पर बैठाकर आप हाथ जोड़कर उनके सन्मुख बैठ गया। लक्ष्मण ने उससे कहा—सुग्रीव! तुम्हारे लिये क्या यही उचित था? प्रतिज्ञा पूरी करना क्या इसे ही कहते हैं? हमारे भाई तो वन में बैठे हुए दु:ख भोगें और तुम यहाँ आनन्द

भोगो। स्त्री के विरह दु:ख की कठिनता जानते हुए भी तुम्हें दूसरे के दु:ख का ख्याल नहीं होना, यह कितने आश्चर्य की बात है। तुम्हारा कुछ दोष नहीं। नीतिकार ने बहुत उत्तम कहा है कि, दूसरे के दु:ख को अपना दु:ख समझनेवाले महात्मा बहुत ही विरले होते हैं। आज सात दिन हो गये, वह तुम्हारी प्रतिज्ञा कहाँ गयी? ठीक है जो स्त्रियों के सुख में लीन होते हैं, उन्हें अपने नियम व्रतादि का कुछ ख्याल नहीं रहता।

सुग्रीव ने कहा—स्वामी! आज है तो सातवाँ ही दिन न? यदि समय पूर्ण होते-होते मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी न करूँ, तो मुझे दोष दीजिएगा। इतनी प्रार्थना कर वह लक्ष्मण के साथ-साथ रामचन्द्र के पास गया और उनके चरणों में गिरकर उसने अपने अपराध की उनसे क्षमा माँगी। इसके बाद उसने सब विद्याधरों को आज्ञा दी कि—यदि तुम मेरा जीवन चाहते हो तो शीघ्र ही जाकर जहाँ हो वहाँ से साध्वी सीता के समाचार ले आओ। सुग्रीव की आज्ञा होते ही सब विद्याधर सीता के समाचार लाने को चारों ओर रवाना हुए। उनमें से एक विद्याधर उधर भी जा निकला, जहाँ रावण ने रत्नजटी की सब विद्यायें छीनकर उसे समुद्र में डाल दिया था। रत्नजटी एक द्वीप में हाथ में ध्वजा लिये उधर आने-जाने वालों के लिये कुछ इशारा कर रहा था। उसे देखकर वह विद्याधर आकाश से नीचा उतरा और उसने रत्नजटी को पहचानकर उससे पूछा कि—हे मित्र! तुम यहाँ कैसे आ पड़े? उत्तर में रत्नजटी ने कहा—मित्र! क्या कहूँ, यह सब रावण की कृपा का फल है। उसने मेरी सब विद्यायें नष्ट कर डाली हैं, इसी से मैं यहाँ आकर गिरा हूँ। आये हुए विद्याधर ने फिर पूछा—रावण के साथ शत्रुता होने का क्या कारण है? रत्नजटी बोला—रावण रामचन्द्र की स्त्री

को हर ले जा रहा था। उसे रोती हुई देखकर मुझे बहुत दया आयी। मैंने उसके पीछे-पीछे जाकर कहा कि—दुराचारी! इस रोती हुई बेचारी साध्वी बालिका को कहाँ लिये जाता है, बस इतना मेरा कहना था कि वह मारे क्रोध के मुझ पर जल गया। मेरी सब विद्यायें भी उसने उसी वक्त नष्ट कर दीं और मुझे यहाँ पटक दिया। उसने पूछा, क्या यह बात सच है कि रावण ही सीता को ले गया है? और तुम उसे ले जानेवाले को अच्छी तरह पहचानते हो? रत्नजटी ने कहा—आप इसमें बिल्कुल सन्देह न करें। मैं ठीक-ठीक कह रहा हूँ। जब उस आये हुए विद्याधर को यह विश्वास हो गया कि, सीता को रावण ही हर ले गया है, तब रत्नजटी को अपने विमान में बैठाकर वह उसे सुग्रीव के पास किष्किन्धापुरी में ले गया और सुग्रीव से उसकी भेंट करा दी। रत्नजटी ने वह सब घटना सुग्रीव से भी कह सुनायी जो उस पर बीती थी। सुनकर सुग्रीव को भी बहुत आनन्द हुआ। वह उसे रामचन्द्र के पास लिवा ले गया। सुग्रीव ने वहाँ पहुँचकर रामचन्द्र से हंसकर कहा—महाराज! यह रत्नजटी सीता का बहुत हाल जानता है। आप इसे एकान्त में ले जाकर सब खुलासा हाल पूछ लें। रामचन्द्र उसे एकान्त में ले गये और उससे सब हाल पूछ लिया। रत्नजटी ने जैसा कुछ देखा था, वैसा का वैसा ही कह सुनाया। रामचन्द्र ने रावण की नीच वृत्ति पर उसे परोक्ष में धिक्कार कर कहा—हे नीच! हे विद्याधरकुलकलंक!! देखूँ, तू मेरी प्रिया को ले जाकर कैसे सुखपूर्वक जीता है? उन्होंने साथ ही अपने सामन्तों पर आज्ञा की कि वीरो! जल्दी तैयारी करो। आज हमें रावण की राजधानी में चलना है और उसे पराजित कर उससे प्रिया को छुड़ाकर लाना है। उत्तर में उन्होंने कहा कि, महाराज! वह कोई साधारण पुरुष नहीं है, इसलिए पहले यह बात जानना जरूरी

है कि सीता वहाँ सचमुच है या नहीं? है तो कहाँ पर है? और रावण इस समय किस काम में लग रहा है? इसके बाद उचित उपाय विचार कर करना चाहिए। रामचन्द्र ने उनका कहना स्वीकार किया और पहले सब हाल जान लेने के लिये आज्ञा दी। परन्तु प्रश्न यह आकर उपस्थित हुआ कि कौन जावे। सबों ने विचारकर निश्चय किया कि, इस काम के करनेयोग्य हनुमान ही है और कोई इसे नहीं कर सकता। इसलिए उसे बुलवाना चाहिए। सबके विचारानुसार हनुमान बुलवाया गया। हनुमान रामचन्द्र के आदेश के अनुसार उसी समय आकर उपस्थित हो गया और रामचन्द्र तथा सुग्रीवादि से बड़ी नम्रता के साथ मिला। सबों ने उसकी विनीतता की खूब प्रशंसा की और यह भी कहा कि—हनुमान प्रबल प्रतापी है, वह सीता की खबर लंका जाकर ला सकेगा। सुनकर हनुमान ने कहा आप चिन्ता न करें मैं लंका जाऊँगा और जनकनन्दिनी की कुशलवार्ता लाऊँगा। हनुमान की धीरता देखकर रामचन्द्र बहुत खुश हुए। उन्होंने एकान्त में ले जाकर हनुमान से कहा कि, मैं तुम्हें यह अँगूठी देता हूँ। इसे सीता के सामने रखकर उससे कहना कि, तुम्हारे वियोग से रामचन्द्र बहुत दु:ख पा रहे हैं—दिन-रात उन्हें चैन नहीं है। तुम्हारे छुड़ाने का उपाय किया जा रहा है। चिन्ता न करना। इतना कहकर वे बोले कि, अब तुम जाओ, विलम्ब मत करो। हनुमान रामचन्द्र को नमस्कार कर और अंगूठी लेकर लंका की ओर रवाना हो गया। रास्ते में उसे एक विद्या मिली। उसकी कुछ भी परवाह न कर वह उसका उदर चीरता हुआ चला गया और धीरे-धीरे लंका में जा पहुँचा। वहाँ पहुँचकर एक आदमी से उसने पूछा कि क्यों भाई तुम्हें यह बात मालूम है कि रावण रामचन्द्र की स्त्री को चुराकर ले आया है?

और यदि मालूम हो तो यह भी बता दो कि वह कहाँ ठहरायी गयी है? तुम्हारे बड़ी कृपा होगी। उस मनुष्य ने सीता का पता हनुमान को बता दिया। उसके कहे अनुसार हनुमान उसी वन में गया, जहाँ सीता ठहरायी गयी थी। हनुमान वहाँ एक वृक्ष पर चढ़ गया, और छिपकर सब हाल देखने लगा। उसने देखा कि, कामी रावण ने अपनी मन्दोदरी आदि स्त्रियों को सीता के पास भेजी हैं। वे उसके पास आकर बोलीं कि, हम सब तेरे सुख का उपाय करती हैं। हम नहीं चाहतीं कि तुझे किसी तरह का दु:ख उठाना पड़े। देख! रावण सब विद्याओं का स्वामी है। उसके अच्छी सुन्दर–सुन्दर एक हजार युवतियाँ भी हैं। परन्तु फिर भी वह तुझ पर जी जान से मुग्ध हो गया है। तुझे अपना भाग्य चमकीला समझना चाहिए, जो आज वह तुझे अपनी सब स्त्रियों में प्रधान प्रिया बनाना चाहता है। तू सवयं अपने चित्त में विचार कि इससे और अधिक क्या पुण्यकर्म हो सकता है? रामचन्द्र साधारण मनुष्य हैं। उनसे उतना लाभ तू नहीं उठा सकती कि, जितना रावण को अपना प्रियतम बनाकर उठावेगी। इस प्रकार और भी बहुत सी बातें मन्दोदरी सीता से कहती रही। सीता को मन्दोदरी की इस निर्लज्जता पर बड़ा क्रोध आया। वह झिझकार उससे बोली कि, हे मन्दोदरी! तेरी तो पतिव्रता स्त्रियों में बड़ी प्रशंसा सुनती थी, परन्तु आज यह नदी का उल्टा बहना कैसा? तुझे ऐसा कहते हुए कुछ लज्जा आनी चाहिए कि मैं कुलीना होकर आज क्या अनर्थ करती हूँ। मैं नहीं जानती थी कि तेरा कुल ऐसा होगा। क्या सचमुच यही तेरे कुल की मर्यादा है? यदि वास्तव में यही बात है तो पहले तू ही यह बता कि, तूने आज तक कितने पति किये हैं? तू मुझे बड़ी मूर्खा जान पड़ती है, जो तुझे इतना भी विचार न हुआ कि कुलीन कन्या का एक ही

पति होता है। बस, खबरदार! अब ऐसे अश्लील वचन मुख से न कहना। सीता की फटकार मन्दोदरी को बहुत बुरी लगी। वह जलकर खाक हो गयी। उसने सीता को दु:ख देना चाहा था कि इतने में वृक्ष पर से हनुमान उतरा और मन्दोदरी आदि को कुछ अपने किये का फल देकर सीता के पास पहुँचा। सीता को नमस्कार कर उसने रामचन्द्र का हाल कहा और वह रामचन्द्र की दी हुई अँगूठी उसके सामने रख दी। अँगूठी को देखकर सीता बहुत आनन्दित हुई। उसने हनुमान से पूछा कि, भाई! तुम्हारा नाम क्या है? और कहाँ से चले आते हो? उत्तर में हनुमान ने कहा कि, मैं रामचन्द्र का सेवक हूँ। मेरा नाम है हनुमान। सुग्रीव के कहे अनुसार रामचन्द्र ने मुझे तुम्हारी कुशलवार्ता लाने के लिये यहाँ भेजा है। सुनकर सीता को बहुत खुशी हुई। उसने फिर पूछा— भाई! रामचन्द्र और लक्ष्मण कुशल तो हैं? हनुमान बोला कि, तुम चिन्ता न करो। वे दोनों भाई बहुत अच्छी तरह से हैं। वे अभी किष्किन्धापुरी में सेना के साथ ठहरे हुए हैं। वे बड़े पुण्य पुरुष हैं, जो उनके साथ विद्याधरों का स्वामी सुग्रीव भी हो गया है। वे बहुत ही जल्दी यहाँ तुम्हें छुड़ाने के लिये आवेंगे। इस प्रकार उसने सीता को बहुत कुछ ढाढ़स बँधाई। सीता जब से यहाँ लायी गयी, तभी से भूखी थी। उसने कुछ नहीं खाया था, सो हनुमान ने उसी समय भोजन सामग्री लाकर उसे भोजन कराया। भोजन के बाद फिर भी रामचन्द्र की प्रेमकथा वह सीता को सुनाने लगा।

जब मन्दोदरी को हनुमान ने उसके किये का फल दिया, तो वह दौड़ी हुई अपने प्रियतम के पास गयी और रोकर हनुमान की सब बात उससे कह दी। सुनकर रावण बड़ा क्रोधित हुआ, उसने अपने सैनिक वीरों से कहा कि, तुम अभी जाओ और उस पशु की

जो सीता के पास बैठा हुआा है खबर लो। आज्ञा के होते ही बहुत सैनिक वीर हनुमान पर चढ़कर आये। उन्हें आते हुए देखकर हनुमान भी झट से आकाश में जाकर उनसे निडर होकर लड़ने लगा। बड़े–बड़े वृक्षों को उखाड़कर उनसे वह रावण की सेना को मृत्युशय्या पर सुलाने लगा। अपने भीषण युद्ध से थोड़ी ही देर में उसने सारी राक्षसी सेना को हरा दी, और फिर स्वयं रावण के पास जाकर उससे बोला कि, हे विद्याधराधिपति! तू तो बड़ा बुद्धिमान समझा जाता था। तुझे यह मूर्खता कैसे सूझी, जो दूसरे की स्त्री के द्वारा सुख भोगने की इच्छा करता है? तू यह नहीं जानता कि उसका स्वामी रामचन्द्र कितना प्रतापी है? और उसका भाई लक्ष्मण भी। तू ऐसे वीर की स्त्री को लाकर क्या अपना जीवन सुख से बिता सकेगा? मुझे तो यह सम्भव नहीं दीख पड़ता। इसी प्रकार हनुमान ने उसे बहुत फटकारा। सुनकर रावण बड़ा क्रोधित हुआ। उसने अपने नौकरों से कड़ककर कहा कि, बड़े आश्चर्य की बात है कि, यह कितना अपमान कर रहा है और तुम इसके मुख के सामने ही देख रहे हो। जल्दी इसका सिर काट डालो। स्वामी का आज्ञा पाते ही नौकर उस पर टूटे परन्तु फिर भी वह उसका कुछ न कर सके। हनुमान झट से आकाश की ओर चला गया और रावण की धृष्टता पर क्रोधित होकर उसने सारी लंका में आग लगा दी। इसके बाद वह दौड़ा हुआ सीता के पास आया और उससे कुछ अभिज्ञान (निशानी) देने के लिये प्रार्थना की। वियोगिनी सीता ने उसे अपना चूड़ारत्न देकर और रामचन्द्र के लिये कुछ शुभ समाचार कहकर विदा दिया। हनुमान सीता को नमस्कार कर वहाँ से रवाना हुआ और थोड़े ही समय में रामचन्द्र के पास आ उपस्थित हुआ। बाद सीता का दिया हुआ चूड़ारत्न उनके सामने रखकर उसने सीता के कहे हुए सब समाचार

उन्हें सुना दिये। उन्होंने जो-जो बातें सीता के सम्बन्ध में पूछीं, उनका उत्तर हनुमान ने देकर उनके चित्त को बहुत सन्तोषित किया।

इसके बाद यह हाल सुग्रीवादिक को भी मालूम हुआ। वे सब मिलकर इस पर विचार करने लगे कि, अब हमें क्या करना उचित है? रावण कैसे जीता जा सकेगा? सीता कैसे लायी जायेगी? और कैसे हम रामचन्द्र को सन्तोषित कर सकेंगे? हम लोगों ने रामचन्द्र की ओर होते वक्त तो कुछ भी नहीं विचारा और झट से उनमें आ मिले परन्तु जब रावण यह हाल सुनेगा तब क्रोध में अन्धा होकर वह हमारा बुरा करने से कैसे चूकेगा? हमें यह भी अभी ठीक नहीं मालूम है कि रामचन्द्र और लक्ष्मण कैसे वीर हैं? और जब तक हम उनकी पराक्रम शक्ति का ठीक-ठीक परिचय न पा लेवें, तब तक हमें अपने जीतने की आशा करना व्यर्थ है। इसलिए सबसे पहले इनके बल की जाँच करनी चाहिए। वह जाँच इनके कोटि शिला के उठा लेने पर हो सकेगी। क्योंकि कोटि शिला वही उठा सकता है जो नारायण हो, और वही प्रतिनारायण को मारनेवाला होता है। रावण प्रतिनारायण है यह हम अच्छी तरह जानते हैं। जबकि हमारी जाँच ठीक हो जाये, तब फिर इन दोनों भाईयों का साथ देने में कोई हानि नहीं है। अन्यथा रावण के द्वारा इनका और हमारा भी सर्वनाश होगा। विद्याधरों के इस विचार को विराधित ने जाकर रामचन्द्र को कह दिया। यह सुनकर लक्ष्मण ने बड़ी निर्भीकता से कहा कि, ये लोग क्यों इतनी कायरता दिखलाते हैं। सब मिलकर शिला के पास चलें। मैं नियम से उसे उठाकर अपने पराक्रम का ज्ञान सबको करा दूँगा। लक्ष्मण के कहे अनुसार विद्याधर और वानरवंशी मिलकर अच्छे मुहूर्त में रामचन्द्र और लक्ष्मण के साथ कोटिशिला के पास गये। वहाँ पहुँचते ही

लक्ष्मण ने उस एक योजन चौड़ी और चौकोनी सर्वतोभद्र नाम शिला की आठ द्रव्यों से पूजा की और फिर उसे नमस्कार कर अपने हाथों से जाँघ के बराबर उठा ली। लक्ष्मण की यह अनुपम वीरता देखकर देवों ने उसकी बहुत प्रशंसा की, उस पर फूल बरसाये और अनेक तरह के बाजे बजाये। उसी दिन से यह भरतखण्ड में आठवाँ वसुदेव प्रसिद्ध हुआ। यही रावण के वंश का पूर्ण नाश करेगा, यही पुरुषोत्तम है। इस तरह देवों के द्वारा जब और–और विद्याधरों ने लक्ष्मण की प्रशंसा सुनी, तब उन्हें यह निश्चित हो गया कि यह रावण का नाश करेगा। उस समय विद्याधरों ने बड़ी खुशी मनायी, दोनों भाईयों की पूजा की, और पश्चात वे अपने सुन्दर विमान पर उन्हें बैठाकर किष्किन्धापुरी में ले आये।

अब रावण से युद्ध होना निश्चय किया गया। सब विद्याधर अपनी–अपनी सेना इकट्ठी करने लगे और सेना ले लेकर रामचन्द्र के दल में मिलने लगे। सीता के भाई भामण्डल के पास भी दूत भेजा गया। वह भी एक हजार अक्षौहिणी सेना लेकर आ उपस्थित हुआ। सुग्रीवादि भी अपनी–अपनी सेना को लेकर आ गये। रामचन्द्र के पुण्य से उस समय विद्याधर और वानरवंशियों की अगणित सेना इकट्ठी हो गयी। इतनी अपार सेना देखकर रामचन्द्र और लक्ष्मण को बहुत बड़ी खुशी हुई।

जब सेना सजकर तैयार हो गयी, तब उसके चलने के लिये आज्ञा दी गयी। सब सेना के लोग अपने–अपने विमानों पर चढ़कर लंका की ओर रवाना हुए। बीच में समुद्र लांघकर वे त्रिकूटाचल पर आये। उन्होंने राक्षसों की राजधानी लंका खूब सजी हुई देखी। लंका के चारों ओर एक विशाल प्राकार था। लंका को देखते ही रामचन्द्र

की सेना को अच्छे-अच्छे शकुन हुए। रामचन्द्र और लक्ष्मण को इससे बड़ा भारी आनन्द हुआ। जब इनके आने का हाल रावण को मालूम हुआ, तब उसे बड़ा क्रोध आया, परन्तु वह उनका कर कुछ नहीं सका।

एक दिन की बात है कि, सीता तो अपनी रक्षा किये हुए धीरता के साथ वन में बैठी हुई थी और रात्रि के वक्त रावण वहाँ पहुँचा और उसने बहुत से उपद्रव करने आरम्भ किये। राक्षस, भूत, पिशाच, डाकिनी, सर्प, हाथी और सिंह आदि भयंकर जीव जन्तु गर्जना करते हुए उसे दिखलाये, पानी बरसाया, अग्नि की भयंकर लीला प्रज्वलित की और बड़े-बड़े पहाड़ों के टूटने का शब्द किया। ऐसे भयंकर उपद्रवों से अच्छे-अच्छे वीर पुरुषों की भी हिम्मत जाती रहती है। उनके अकस्मात् देखने से सीता को डर तो अवश्य लगा, परन्तु उसने अपने अखण्ड शीलव्रत को किंचित् भी मलीन न होने दिया। उसने उपद्रवों के द्वारा मर जाना अच्छा समझा, परन्तु रावण का आश्रय लेना उचित न समझा। उसने अपनी रक्षा की प्रार्थना किसी से न की। इसी तरह वह नराधम सारी रात उस पर उपद्रव करता रहा। परन्तु जनकनन्दिनी के सुमेरु समान हृदय को किसी तरह विचलित न कर सका। अन्त में निराश होकर वह अपने घर पर चला गया। सीता की अप्राप्ति में काम उसे अधिकाधिक अधीर करने लगा। परन्तु परवशता से उसे मन मारकर रह जाना पड़ा। जब यह हाल विभीषण को मालूम हुआ, तो उसे बड़ी दया आयी। वह सीता के पास गया और उससे उसने पूछा कि, हे माता! क्यों रो रही हो? उत्तर में सीता ने अपनी सब कहानी सुना दी। सुनकर उसे बड़ा दु:ख हुआ। वह वहाँ सीता को विश्वास देकर रावण के पास आया और उससे बोला कि, हे

पूज्य! आप तो स्वयं विद्वान हैं। यह आप अच्छी तरह जानते हैं कि परस्त्री सेवन करने से बुराइयां उत्पन्न होती हैं। इसलिए मैं विनीत होकर प्रार्थना करता हूँ कि आप जिसकी स्त्री लाये हैं, उसे पीछे उसी के सुपुर्द कर दें तो अच्छा हो। ऐसा करने से हमारे कुल की कीर्ति चारों ओर फैलेगी। आप जरा शान्त होकर विचार करें। इसमें अपनी भलाई न होगी। हे महाभाग! अन्याय करने से लाभ न हुआ हे और न होगा। सुख के लिये धर्म सेवन करना उचित है। धर्म से सीता ही क्या किन्तु उससे भी कहीं अच्छी–अच्छी सुन्दरियाँ स्वयमेव धर्मात्मा पुरुष को अपना पति बनाती हैं। आशा है कि आप बुरी वासना को अपने चित्त से हटा देंगे। देखिये रामचन्द्र यहाँ आ पहुँचे हैं। वे अभी राजधानी के बाहर ही हैं। यदि आप सीता को उन्हें सौंप देंगे, तो वे वहीं से खुश होकर लौट जावेंगे और कुछ भी झगड़ा न होगा। अन्यथा वे तो अपनी प्रिया को लेने को आये हैं, सो लिवा ही जावेंगे। परन्तु उस हालत में भारी हानि होने की सम्भावना है। इसलिए बैर न बढ़कर शान्त हो जाये, तो बहुत अच्छा हो। शान्ति का उपाय सीता को वापिस दे देना ही है। बस यही मेरी प्रार्थना है। अब जैसा उचित जंचै, वैसा करें।

विभीषण के समझाने पर उस पर उल्टा प्रभाव पड़ा। शान्ति की जगह क्रोध ने उसे विवश किया। वह विभीषण से बोला कि, पापी! तू मेरा भाई होकर भी मेरे दोषों का उल्लेख करता है और रामचन्द्र जो कि न जाने कौन हैं, उसकी प्रशंसा करता है। तुझे कहते हुए लज्जा भी नहीं आती? बस मैं इससे अधिक तुझ सरीखे दुष्ट से कुछ कहना नहीं चाहता हूँ और न सम्बन्ध ही रखना चाहता हूँ। खबरदार! अब जो कुछ भी मुँह में से वचन निकाला तो। तेरी खैर इसी में है

कि तू यहाँ से निकल जा। अब तुझे इस शहर में रहने का अधिकार नहीं है। उत्तर में विभीषण ने कुछ न कहकर केवल इतना ही कहा कि, अच्छा तुम्हारी जैसी इच्छा होगी वही होगा। मैं भी ऐसे अनीति करनेवाले राजा के अधिकार में नहीं रहना चाहता। इतना कहकर विभीषण अपनी सेना को लेकर लंका से निकल गया और सुग्रीव से जाकर मिला। उसने अपने आने की सब कथा सुग्रीव से कह सुनायी। सुनकर सुग्रीव बहुत खुश हुआ। वह रामचन्द्र के पास जाकर बोला कि महाराज! विभीषण रावण से लड़कर आया है। सुनकर रामचन्द्र भी बहुत खुश हुए। उन्होंने उससे मिलने की इच्छा की। सुग्रीव जाकर विभीषण को रामचन्द्र के पास लिवा लाया और दोनों की उसने भेंट करा दी। रामचन्द्र ने विभीषण को गले से लगाकर उससे पूछा कि, लंकाधिराज! अच्छी तरह तो हो? अब तुम सब चिन्ताओं को छोड़ो और विश्वास करो कि तुम्हें लंका का राज्य दिया जायेगा। विभीषण ने कहा—जैसा आप विश्वास दिलाते हैं, वैसा ही होगा। क्योंकि महात्माओं के वचन कभी झूठे नहीं होते। बाहर निकला हुआ हाथी का दाँत फिर भीतर नहीं घुसता। रामचन्द्र ने फिर भी यही कहा कि, सब अच्छा होगा। तुम निश्चिन्त रहो। उस समय वानरवंशियों को विभीषण के अपने पक्ष में मिल जाने से बड़ी भारी खुशी हुई। सच है, अच्छे पुरुष के मिलने से किसे आनन्द नहीं होता? जब विभीषण के रामचन्द्र से मिल जाने का हाल रावण को मालूम हुआ, तो वह भी उसी समय तैयार हुआ और अपने शूरवीरों को तैयार होने की उसने आज्ञा दी। स्वामी की आज्ञा पाते ही इन्द्रजीत मेघनाद और कुम्भकर्ण आदि जितने वीर योद्धा थे, वे सब रावण के पास आ उपस्थित हुए। यह देख रावण अपनी सब

सेना को साथ लेकर और बन्दीजनों के द्वारा अपना यशोगान सुनता हुआ लंका से बाहर हुआ। रावण की सेना बहुत थी, उससे सारा आकाशमण्डल आच्छादित हो गया था। उसकी चार हजार अक्षौहिणी सेना के सामने आने की दैत्यों की भी हिम्मत नहीं पड़ती थी, फिर मनुष्यों की तो बात ही क्या है? सारा आकाश और पृथ्वी सेनामयी दीख पड़ती थे। सेना युद्धभूमि में उपस्थित हुई कि बाजों के शब्द होने लगे, हाथी चिंघाड़ मारने लगे, घोड़े हींसने लगे, रथों के पहियों के चरड़ चूं चरड़ चूं शब्द होने लगे, भाट शूरवीरों का यश गाने लगे, शूरवीर खूब जोर–जोर से हंसने लगे और धनुष्य पर डोरी चढ़ाने का शब्द होने लगा। कहने का अभिप्राय यह है कि उस समय सारा संसार शब्दमय हो गया। इस भयानक कोलाहल के मारे एक का शब्द एक नहीं सुन पाता था। युद्ध की इस भयंकरता को देखकर कायर लोगों के हाथों से शस्त्र गिर पड़े। वीरों को बड़ा आनन्द हुआ। उनके पुराने घाव फिर नये हो गये। फटकर उनमें से खून बहने लगा। कवचों की सन्धियाँ टूट गयीं। यह कोलाहल देखकर रामचन्द्र ने जान लिया कि रावण भी सेना लेकर आ चढ़ा है। उन्होंने अपनी सेना को भी तैयार होने की आज्ञा दी। सेना तैयार हुई। दोनों वीरों ने अपनी–अपनी सेना को लड़ने की आज्ञा दी। अपने–अपने स्वामी की आज्ञा पातो ही दोनों सेनाएँ परस्पर भिड़ गयीं। युद्ध का सूत्रपात हुआ।

हाथियों से हाथी और घोड़ों से घोड़े भिड़े, रथों से रथों की टक्करें हुईं, पाँव चलनेवाली सेना अपने साथियों से भिड़ीं, और बाण से लड़नेवाले अपने साथियों से भिड़े। आकाश बाणों से छा गया, चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार दिखायी देने लगा। हाथियों को हाथी गिराने लगे, घोड़ों का घोड़ों से नाश होने लगा, बहुतों

के हाथों से शस्त्र गिरने लगे, एक का हाथ पकड़कर एक खींचने लगा, परस्पर मुट्ठियों से मारने लगे, कितने वीर पुरुष अपने एक हाथ के कट जाने से दूसरे हाथ से शत्रु को मारने लगे, कितनों का धड़ युद्धभूमि में नृत्य करने लगा, कितने चिल्ला-चिल्लाकर शत्रु को पुकारने लगे और कहने लगे कि अभी क्यों मरना चाहता है, जा अपने स्त्री-पुत्रादि से मिल और आनन्द भोग। युद्ध में प्राण देने से क्या होगा? अथवा मेरे सामने आ, मैं तुझे युद्ध का मजा दिखलाऊँ। उधर दूसरे ने कहा—जरा स्वस्थ हो ले, अपने बिखरे हुए केशों को सम्हाल और पीछे युद्ध करने को तैयार हो। इतने में तीसरे ने कहा कि, युद्ध में मरकर क्या लाभ उठावेगा? तू मेरे पास चला आ, फिर तुझे कोई नहीं मार सकेगा। इस समय युद्ध भूमि की शोभा ही विलक्षण दीख पड़ती थी। वह खासी समुद्र की श्री को धारण किये थी—समुद्र में बड़े-बड़े जलहाथी होते हैं, उनकी जगह युद्धभूमि में मरकर गिरे हुए हाथी थे, समुद्र में मगर होते हैं, उनकी जगह युद्धभूमि में घोड़े थे, समुद्र में बड़ी-बड़ी मछलियाँ होती हैं, युद्धभूमि में उनकी जगह घोड़ों के पाँव थे, समुद्र में जल रहता है युद्धभूमि में उसकी जगह खून का स्रोत बह रहा था, समुद्र में फेन होते हैं, उनकी जगह युद्धभूमि में राजाओं के सिर पर रहनेवाले श्वेत छत्र थे, समुद्र में रत्नराशि होती है, युद्धभूमि में राजा-महाराजाओं के मुकुटों के रत्न थे, समुद्र में सर्प होते हैं, युद्धभूमि में उनकी जगह हाथियों की सूंड़ें थीं, समुद्र में नाना प्रकार की धातुएँ होती हैं, उनकी जगह युद्धभूमि में अनेक तरह के सुवर्ण-चाँदी आदि के भूषण थे।

जो लोग डरपोक थे—जिनका तेज बिलकुल नष्ट हो चुका था, वे बेचारे तो इस समुद्र के पार तक न पहुँचने पाये थे कि बीच ही में उन्हें अपनी जीवनलीला संवरण करनी पड़ी। जो हिम्मत

बहादुर थे, वे शक्तिभर उसके पार होने के उपाय करने लगे। इस भीषण युद्ध में रामचन्द्र की सेना ने रावण की सेना को मार भगायी। यह देख रावण स्वयं उठा और अपने भागते हुए वीरों को उसने ललकारा। कहा कि, वीरों! यह भागने का समय नहीं है, ठहरो, और इन पामरों को मारकर विजयश्री प्राप्त करो। वे लोग कायर हैं, जो युद्ध में पीठ दिखाते हैं। तुम ऐसे वीर होकर इन थोड़े से मनुष्यों की सेना से डरकर भागे जाते हो? क्या यही तुम्हारी वीरता है? युद्ध से भागकर अपने कुल को कलंकित न करो किन्तु यश लाभकर स्वर्ग प्राप्त करो। रावण के कहते ही वीरों का हृदय जोश के मारे उमड़ उठा, वे आकर रामचन्द्र की सेना पर टूट पड़े। उन्होंने देखते-देखते रामचन्द्र की सेना को व्याकुल कर दी। वह रावण के प्रबल प्रताप को न सहकर भाग निकली। यह देख लक्ष्मण ने कहा—यह सेना क्यों भागती है? उत्तर मिला कि रावण के प्रताप को न सह सकने के कारण सेना भाग रही है। लक्ष्मण ने अपने वीरों को ललकारा कि—वीरो! भागो मत, तुम्हारा सेनापति आगे होकर अभी रावण की वीरता का तुम्हें परिचय दिये देता है। तुम अभी अपनी आँखों से देखोगे कि रावण की क्या गति होती है? यह कहते-कहते लक्ष्मण अपने वीरों को साथ लिये हुए युद्धभूमि में जा पहुँचा। रावण लक्ष्मण को देखकर कुछ हँसा और बोला कि, तू अभी तो बालक है, क्यों तुझे अपनी मृत्यु से डर नहीं है? मुझे तेरी इस बाल्य अवस्था पर बड़ी दया आती है। नहीं जान पड़ता कि, तुझे मृत्यु क्यों अच्छी लगती है? सुनकर लक्ष्मण ने रावण से कहा—तू बड़ा ही ढीठ है, जो चोरी करके भी साहूकार बनने का दावा रखता है। मैं बालक हूँ, तो भी क्या हुआ? तेरे कर्म का फल तुझे देने के लिये तो अच्छी तरह से समर्थ हूँ। परस्पर के

इस कठोर भाषण ने दोनों को अभिमानी बना दिया। दोनों ही मानी वीर ताल ठोककर युद्धभूमि में उतर पड़े। लड़ाई आरंभ हुई। एक की मुष्टी एक पर पड़ने लगी। वे दोनों युद्ध में बड़ी जल्दी करते थे। किस समय वे मुष्टी बाँध लेते थे और कब मार देते थे, इसका देखनेवालों को कुछ भी पता नहीं चलता था। उनके चक्र, बाण और भाला आदि शस्त्रों का युद्ध बड़ा भीषण होता था। लोग उसे देखकर आश्चर्य करते थे। इस युद्ध में लक्ष्मण की विजय हुई। उसने रावण को आकुल कर दिया, उसके हाथी को गिरा दिया। रावण अपने हाथी को बेकाम का देखकर उससे उतर पड़ा और उसी समय उसने लक्ष्मण के ऊपर शक्ति चलायी। शक्ति व्यर्थ न जाकर लक्ष्मण को लगी। उससे वह मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। यह हाल रामचन्द्र को मालूम हुआ। वे उसी समय लक्ष्मण के पास आये और लक्ष्मण को मूर्च्छित देखकर स्वयं भी मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। उनका शीतलोपचार किया गया। कुछ समय बाद वे सचेत हुए। भाई की यह हालत देख वे बहुत दु:खी हुए। युद्ध रुकवा दिया गया। रावण से रामचन्द्र ने कहा कि, हमारे भाई की तबियत बहुत खराब है, युद्ध बन्द कर दिया जाये। उनके कहे माफिक रावण ने युद्ध बन्द कर दिया। रावण यह समझकर कि मैं सर्वथा विजयी हुआ, अब मुझे किसी का डर नहीं है अपनी राजधानी में चला गया और सुखपूर्वक रहने लगा। इसी अवसर में अष्टाह्निका पर्व आ गया। सभी धर्मध्यान में लग गये। किसी को युद्ध का ध्यान तक न रहा।

उधर वे युद्धभूमि से लक्ष्मण को डेरे पर लिवा ले गये। कुटिल रावण का अधिक भय होने से उसकी रक्षा के लिये विद्या के द्वारा

प्रबन्ध किया गया। रामचन्द्र को तो सिवाय रोने के और कुछ नहीं सूझता था। उनकी यह हालत देखकर सुग्रीव विभीषण आदि को बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने रक्षा का और भी कड़ा प्रबन्ध किया। रामचन्द्र दु:खी होकर भामण्डल से बोले कि, तुम अपनी बहिन के पास जाओ और उससे कहो कि, तुम्हारे लिये लक्ष्मण ने अपने प्राण दे दिये हैं और अब उसके साथ–साथ रामचन्द्र भी अग्निप्रवेश करेंगे। तुम अपने कुल की रीति न छोड़ना।

रामचन्द्र अधीर हो उठे। उनसे वह दु:ख सहा नहीं गया। वे रोकर कहने लगे कि हाय! मैं बड़ा ही पापी हूँ जो मुझे असमय में यह यन्त्रणा भोगनी पड़ी। प्यारे भाई का मुझे वियोग हुआ, मुझे इस बात का और भी अधिक दु:ख है कि मैं विभीषण के सामने झूठा होऊँगा। वह मुझे क्या कहेगा? जो हो मैं उससे क्षमा चाहता हूँ। भाई विराधित! तुम चिता तैयार करो, भाई के साथ–साथ मैं भी अपनी जीवनलीला पूर्ण करूँगा। मैं बिना भाई के क्षणमात्र भी नहीं जी सकता। तुम सबसे मैं क्षमा चाहता हूँ। रामचन्द्र यों कह रहे थे कि इतने में एक विद्याधर ने आकर हनुमान से कहा कि मैं लक्ष्मण के जीने का उपाय बताता हूँ, मेरा कहना सुनो—हनुमान ने खुश होकर उससे पूछा कि, तुम जल्दी उपाय बताओ, लक्ष्मण की तबीयत बहुत खराब है। विशेष बातचीत के लिये अवकाश न होने से मैं अभी क्षमा माँगता हूँ। वह बोला कि, एक वक्त मुझे भी शक्ति लगी थी, तब उसे हटाने के लिये मुझ पर विशल्या का जल छींटा गया था। और जब कभी हमारे यहाँ किसी तरह की महामारी चलती है, तब उसी के जल से शान्ति की जाती है। तुम भी वैसा ही करो। सुनकर हनुमान ने पूछा विशल्या कहाँ रहती है? विद्याधर कहने

लगा कि—

एक द्रोण नाम का राजा है। वह भरत का मामा है। उसकी विशल्या नाम की कन्या है। तुम उसके पास जाओ। हनुमान ने यह हाल रामचन्द्र से कहा। रामचन्द्र ने कहा—हो सके तो उपाय करो। उसमें अपनी हानि क्या? और कुछ नहीं तो अब तक आशा तो है। अस्तु। इसके लिये भामण्डल और हनुमान तैयार हुए। वे दोनों वहाँ से रवाना होकर अयोध्या पहुँचे और यह सब हाल उन्होंने भरत से कहा। उसे रावण पर बड़ा क्रोध आया। वह रावण से युद्ध करने के लिये अपनी सेना को तैयार होने के लिये आज्ञा देने लगा। उसे रोककर हनुमान ने कहा—यह अभी उचित नहीं है। पहले भाई के जिलाने का उपाय कीजिये। वह तुम्हारे मामा की विशल्या पुत्री के स्नान किये हुए जल से जी सकेगा। भरत ने कहा—अभी रात है प्रात:काल होते ही उसके शरीर का जल मैं तुम्हें ला दूँगा। सुनकर हनुमान ने कहा—तुम कहते हो, वह ठीक है परन्तु सूर्योदय का होना लक्ष्मण के लिये अच्छा नहीं है। अर्थात् जिसे शक्ति लगती है, उसका रात्रि के भीतर ही भीतर प्रतिकार यदि किया जाये, तब तो वह जी सकता है, अन्यथा उसका जीना मुश्किल होता है। इसलिए अभी जाकर ही जल लाना उचित है। उठिये विमान तैयार है, मैं भी आपके साथ-साथ चलता हूँ। भरत उठे और विमान पर चढ़कर अपने मामा के यहाँ पहुँचे। सोते हुए द्रोण को उठाया और उससे सब हाल कहा। द्रोण ने उसी वक्त विशल्या को बुलवाई और उससे कहा कि बेटी, लक्ष्मण शक्ति के लगने से मूर्च्छित पड़ा हुआ है, तू अपने शरीर का जल जल्दी दे दे, जिससे वह सचेत हो सके। पिता का कहना सुनकर विशल्या ने उनसे पूछा कि पिताजी! ये लक्ष्मण कौन हैं? द्रोण ने कहा—

लक्ष्मण दशरथ और सुमित्रा का पुत्र और रामचन्द्र का छोटा भाई है। रावण ने उस पर शक्ति मारी है। इसलिए हनुमान तुम्हारे शरीर का गन्धजल लेने को आया है। तुम जल्दी इसे जल दो, जिससे यह ले जाकर उसे जिलावे। दिन का निकलना उसके लिये अमंगलकारक है। विशल्या ने कहा—पिताजी! आपसे अपनी धृष्टता की क्षमा चाहती हूँ। मैं लक्ष्मण के गुण सुना करती थी और उसी समय उन पर मुग्ध हो उन्हें मैंने अपने जीवनेश समझ लिये थे। आज अवसर है। मैं स्वयं ही उनके पास जाकर अपना कर्तव्य पालन करती हूँ। आप मुझे आज्ञा दीजिये। पिताजी की आज्ञा लेकर विशल्य हनुमान के साथ–साथ आयी। वह जैसे–जैसे लक्ष्मण के पास पहुँचने लगी, शक्ति वैसे–वैसे ही लक्ष्मण के शरीर से निकलती गयी। विशल्या ने जाकर लक्ष्मण के शरीर का स्पर्श किया कि इतने में शक्ति उसके शरीर से निकल भागी! भागते समय उसे द्वार पर बैठे हुए हनुमान ने पकड़ी और क्रोध में आकर उससे कहा कि बोल, अब तुझे क्या दण्ड दिया जाये? तूने हम लोगों को बड़ा तंग किया है। तू बहुत दिन में हाथ आयी है, मैं तुझे अब नहीं छोड़ने का। शक्ति हनुमान से हाथ जोड़कर बोली कि, हे महात्मा! अब तो मुझे छोड़ दो, मैं आज से प्रतिज्ञा करती हूँ कि अब कभी आपकी सेना में नहीं आऊँगी। रामचन्द्र बड़े पुण्यशाली हैं। परन्तु अब उनका पुण्य सीमा पर पहुँच चुका है। हनुमान ने फिर उससे पूछा—तू यह तो बता कि तुझमें कितनी शक्ति है? वह बोली कि, वीर! क्या तुम मेरी शक्ति नहीं जानते हो जो पूछते हो? अस्तु। सूर्य को पृथ्वी पर गिरा सकती हूँ, चन्द्रमा का ग्रास कर सकती हूँ, इन्द्र को रसातल में भेज सकती हूँ और अधिक क्या कहूँ, मैं यदि पाँच

सौ कोस की दूरी पर होऊँ, तो भी अपना असर वहीं से डाल सकती हूँ। आश्चर्य है कि वह असर आप पर पास रहते हुए भी बिल्कुल नहीं चलता। हनुमान ने उससे फिर न आने की प्रतिज्ञा करवाकर उसे छोड़ दी। उसने जाकर रावण से कहा कि, महाराज! मैं अब कभी रामचन्द्र की सेना में नहीं जाऊँगी। क्योंकि उनके अपार पुण्य के सामने मेरा कुछ बल नहीं चलता है।

जब लक्ष्मण की मूर्च्छा दूर हुई, तब वह एकदम यह कहता हुआ उठा कि, मारो! मारो!! पकड़ो!!! देखो, चोर रावण भागने न पावे। लक्ष्मण को सचेत देखकर रामचन्द्र, सुग्रीव, भामण्डल और हनुमान आदि को बहुत खुशी हुई। सबों ने बड़ा भारी आनन्दोत्सव मनाया। इसके बाद विशल्या का सब वृत्तान्त लक्ष्मण को सुनाकर उसके साथ उसका विधिपूर्वक विवाह कर दिया।

उधर रावण अष्टाह्निका पर्व आया समझ बहुरूपिणी विद्या साधने को अपने जिनमन्दिर में गया और ध्यान लगाकर अपना अभीष्ट सिद्ध करने लगा। यह हाल जब रामचन्द्र को मालूम हुआ, तब वे अंगद से बोले कि अवसर पर अच्छा है, तुम जाओ और रावण की विद्यासिद्धि में विघ्न करो। उनके कहते ही अंगद अपने बहुत से साथियों को लेकर रावण की विद्या सिद्धि की जगह पर पहुँचा और घोर से घोर उपद्रव करना उसने आरम्भ किये। उसने अपनी करनी में किसी तरह की कसर न की, परन्तु धीर वीर रावण ने उसकी कुछ परवाह न की। जब वह रावण की कुछ हानि न कर सका, तब उसे निराश होकर वापिस अपने डेरे पर लौट जाना पड़ा। रावण ने अपना अनुष्ठान पूरा किया। उसे विद्या की सिद्धि की गयी। वह इस विद्या के द्वारा अनेक तरह के रूप बनाने लगा।

लक्ष्मण जब अच्छे हो गये, तब फिर रामचन्द्र ने रावण के पास युद्ध का आमन्त्रण भेजा। वह उसी समय सजधजकर युद्धभूमि में आ उपस्थित हुआ। उसकी सेना विजय की इच्छा से आनन्द रव करने लगी। यह देखकर रामचन्द्र और लक्ष्मण भी अपनी सारी सेना को लेकर युद्धभूमि में आये। दोनों ओर से अपनी–अपनी सेना को लड़ने की आज्ञा दी गयी। परस्पर में दोनों सेना की मुठभेड़ हुई। वीरपुरुष जीने की कुछ परवाह न कर युद्ध करने लगे। लक्ष्मण ने रामचन्द्र से कहा—पूज्य! आप यहीं ठहरें, मैं जाकर युद्ध करता हूँ। रावण को अभी ही धराशायी बनाता हूँ। रामचन्द्र लक्ष्मण के कहे अनुसार युद्धभूमि में न जाकर बाहर ही ठहरे और लक्ष्मण युद्ध के लिये उतरा। लक्ष्मण और रावण का भीषण युद्ध होने लगा। परन्तु अभी किसी के सिर विजयमुकुट नहीं बँधा। रावण अबकी बार लक्ष्मण को अपने साथ बहुत देर तक युद्ध करता हुआ देखकर बहुत क्रोधित हुआ। उसने लक्ष्मण के ऊपर अग्नि बाण चलाया, उसे लक्ष्मण ने मेघ बाण से रोक दिया। रावण ने सर्प बाण चलाया, उसे लक्ष्मण ने गरुड़ बाण से रोका। अबकी रावण ने तामस बाण चलाया, उसे लक्ष्मण ने सूर्य बाण से रोका। रावण दूसरा बाण छोड़ना ही चाहता था कि लक्ष्मण ने बड़ी फुर्ती से अपने अर्धचन्द्र बाण से उसका सिर काट दिया। सिर के कटते ही उसने दो सिर बनाये। लक्ष्मण ने अबकी दोनों सिर काट डाले। उसने चार सिर बना लिये। गरज यह कि जैसे–जैसे रावण सिर बढ़ाता गया, वैसे–वैसे लक्ष्मण उन्हें काटता गया। सच है कि, विद्या से सब काम सिद्ध हो सकते हैं। यह देखकर रावण बड़ा क्रोधित हुआ। उसकी आँखें लाल–लाल हो गयीं और भृकुटियाँ चढ़ गयीं। उसने लक्ष्मण की यह अपूर्व शक्ति देखकर और उसका साधारण उपायों

से पराजित न होना समझकर चक्ररत्न को स्मरण किया। चक्र हाथ में आ उपस्थित हुआ। रावण के हाथ में चक्र आया समझकर लक्ष्मण की सेना उसके तेज को न सह सकी। वानरवंशी घबराये। सच है, जिसकी हजारों देव सेवा करते रहते हैं, उससे किसे डर न होगा?

चक्र अपने हाथ में लेकर रावण ने लक्ष्मण से कहा—अरे नीच! मेरे सामने से अलग हो, नहीं तो अभी तुझे अपने घमण्ड का मजा बताये देता हूँ। देख, अब भी भाग जा–अभी कुछ नहीं बिगड़ा है। मुझे तेरी इस अवस्था पर दया आती है, इसी से मैं तुझे अपनी रक्षा करने को कहता हूँ। तू बड़ा ढीठ है, जो इतने पर भी सामने से अलग नहीं हटता। सुनकर लक्ष्मण की भी क्रोधाग्नि धधक उठी। उसने भी रावण को सुखी–सुखी सुनाना आरम्भ कीं। वह बोला कि, तू बड़ा मूर्ख है, जो इस कुम्हार के चक्र से अपने को धन्य और अजेय मान रहा है? अरे दरिद्र! तुझे लज्जा आनी चाहिए, जो इस चमकते हुए काँच के टुकड़े को पाकर जौहरी बनना चाहता है? चोरों के गुरु! तू राजा कहलाता है, फिर भी तुझे दूसरे की स्त्री लाते हुए लज्जा न आयी? देखूँ, मैं तेरे इस चक्र की ताकत! तू इसे खुशी के साथ चला। मैं तुझे अभी इसका प्रतिफल दिये देता हूँ। समय क्यों खो रहा है, अपना काम पूरा क्यों नहीं करता? लक्ष्मण के कहने ने उसके क्रोध को और अधिक बढ़ा दिया। उसने क्रोधान्ध होकर लक्ष्मण पर चक्र चला दिया। चक्र लक्ष्मण को कुछ भी हानि न पहुँचा कर उल्टा प्रदक्षिणा देकर उसके हाथ में आ गया। लक्ष्मण चक्र हाथ में लेकर रावण से बोला कि, पापी! अब भी समय है। यदि तुझे अपनी जान प्यारी है, तो जाकर बड़े भाई के पावों पर गिर और उनसे अपना अपराध क्षमा करा, नहीं तो इसी चक्र से तेरे सिर के टुकड़े–टुकड़े किये देता हूँ। रावण का मुख उतर तो गया,

परन्तु फिर भी उसने हिम्मत बाँधकर लक्ष्मण से कहा कि, दूसरे की झूठी वस्तु पाकर भी इतना अभिमान! तुझे लज्जा आनी चाहिए, जो दूसरे के धन पर इतना कूद रहा है? अस्तु। तू अपने को जब अजेय समझता है तो समझ। मुझे इससे क्या? तू चक्र चला मैं अभी तेरे घमण्ड को चूर-चूर किये देता हूँ। रावण चुप हुआ ही था कि, लक्ष्मण ने चक्र उसके ऊपर फेंका। चक्र ने पहुँचते ही रावण के सिर को उसके धड़ से अलग कर दिया। रावण पृथ्वी पर धड़ाम से गिरा। उसके गिरते ही सेना में हाहाकार मच गया। अनाथ सेना जिधर रास्ता मिला, उधर ही भाग निकली। युद्ध का अन्त हुआ।

विभीषण ने भाई का अग्निसंस्कार किया। संसार की यह लीला देखकर इन्द्रजीत मेघनाद आदि उसी वक्त उदासीन होकर तपोवन में चले गये। उसी दिन से रामचन्द्र की कीर्ति पताका सारे संसार में फहराने लगी। लक्ष्मण ने चक्ररत्न की पूजा की। विभीषण को लंका का राज्य दिया गया। सब राक्षसवंशी रामचन्द्र से आकर मिले। भामण्डल सुग्रीव और हनुमान आदि को बहुत खुशी हुई। इसके बाद रामचन्द्रजी सीता से मिले। सीता ने स्वामी को नमस्कार किया। बहुत दिनों के बाद आज दोनों के विरह-दु:ख की इतिश्री हुई। रामचन्द्र ने सीता को पीछी पाकर अपने को कृतार्थ माना। दोनों का सुखसम्मिलन हुआ। एक के देखने से एक को परम आनन्द हुआ। थोड़ी ही देर बाद वहीं लक्ष्मण भी आया और सीता के पावों पर गिर पड़ा। सीता उसे उठाकर कुशल समाचार पूछने लगी। लक्ष्मण ने अपनी सब कथा उसे कह सुनायी। सबको इस समागम से बड़ी खुशी हुई। यह बात ठीक है कि जिस विरह से दिन-रात दु:ख उठाना पड़ता है, वह जब दूर हो जाता है तब किसे

आनन्द नहीं होता? रामचन्द्र और सीता के दिन पहले की तरह अब फिर भी सुख से बीतने लगे।

जब रामचन्द्र का उज्ज्वल सुयश चारों ओर फैल गया, तब बहुत से राक्षसों ने आकर उनकी आधीनता स्वीकार की। उन्हें अच्छी-अच्छी वस्तुएँ भेंट में दीं। विद्याधर उनकी सेवा करने लगे। इस सुख में रामचन्द्र के बहुत दिन बीत गये, उन्हें समय का कुछ ख्याल नहीं रहा। रामचन्द्र ने चौदह वर्ष के लिये अयोध्या छोड़ी थी, सो आज वह अवधि पूर्ण हुई। उन्हें अकस्मात् अपनी जन्मभूमि की याद आ गयी। सच तो है—

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।

जैसे-जैसे समय बीतने लगा, वैसे-वैसे उसकी अभिलाषा अधिक-अधिक बढ़ती गयी। अच्छा दिन देखकर उन्होंने अयोध्या के लिये गमन किया। उनके साथ-साथ विभीषण, सुग्रीव, हनुमान और विराधित आदि बहुत से बड़े-बड़े राजा गये। मार्ग में और भी बहुत से देशों को रामचन्द्र ने अपने वश किये। कुछ दिनों के बाद वे अयोध्या में जा पहुँचे। रामचन्द्र के आने के समाचार से अयोध्यावासियों को बड़ा आनन्द हुआ। उन्होंने अपने महाराज की खुशी में बहुत उत्सव किया। भरत—उन्हें लिवाने को बहुत दूर तक आये और पहले ही पहुँच कर उन्होंने दोनों के चरणों की अभिवन्दना की। रामचन्द्र ने भरत ने आलिंगन कर उससे कुशलता पूछी। सब आनन्दित हुए। आज रामचन्द्र अयोध्या में प्रवेश करेंगे, इसलिए सारी नगरी खूब सजाई गयी। रामचन्द्र शहर में होते हुए अपने महल में पहुँचे। पहले ही अपनी सब माताओं से मिले। माताओं ने पुत्र की आरती उतारी। इसके बाद रामचन्द्र अपनी प्रजा

से प्रेमपूर्वक मिले। सबको बहुत खुशी हुई। रामचन्द्र राज्य पालन करने लगे। इस खुशी में रामचन्द्र ने मित्र, भाई, बन्धु और विद्याधर आदि जितने अपने प्रेमपात्र थे, उन्हें बहुत सी जागीरें दी। रामचन्द्र के शासन से प्रजा बहुत सन्तुष्ट हुई।

रामचन्द्र परस्त्री के पाप से रहित थे इसलिए उनकी कीर्ति सब दिशा में विस्तृत हो गयी और रावण इसी परस्त्री के पाप से मरकर नरक गया। उसकी कीर्ति नष्ट हुई, उसके कुल में कलंक लगा और अन्त में दूसरे के हाथ से उसकी मृत्यु हुई। सारांश यह है कि, परस्त्री सेवन से दोनों लोक बिगड़ते हैं, हजारों वर्ष का उज्ज्वल सुयश एक समयमात्र में नष्ट हो जाता है, शरीर रोगों का घर होकर जीर्णप्राय हो जाता है और फिर बुरी तरह मृत्यु होती है। इसलिए हे बुद्धिमानो! परस्त्री से संसर्ग करना छोड़ो। जो परस्त्री के त्यागी हैं, वे संसार में निर्भय हो जाते हैं, उनकी कीर्ति सब जगह फैल जाती है। देखो, यही रावण त्रिखण्ड का स्वामी था, लंका सरीखी पुण्यपुरी इसकी राजधानी थी, और उसके प्रताप से बड़े–बड़े राजे–महाराजे डरते थे। आज उसी वीर की केवल परस्त्रीहरण के पाप से यह दशा हुई, तो और साधारण पुरुष इस परस्त्री व्यसन से कितना दु:ख उठावेंगे, यह अनुभव में नहीं आता। और कुछ नहीं तो, परस्त्री सेवन करनेवालों को इस लोक में धनहानि और शारीरिक कष्ट और परलोक में नरकादि कुगतियों के दु:ख तो सहने ही पड़ते हैं। इसमें किसी तरह का सन्देह नहीं है। वे मनुष्य नहीं हैं, किन्तु नीच हैं, जो दूसरों की स्त्री से अपनी बुरी वासना पूरी करते हैं। वे झूठा खानेवाले कुत्ते हैं। भाईयों! परस्त्रीसेवन सर्वथा निन्द्य है, इसे छोड़कर अपनी ही स्त्री में सन्तोष करो। यही धर्मात्मा होने की पहली सीढ़ी है इसी तरह बहुत सी कथायें परस्त्री के सम्बन्ध

की है। उन सबका अभिप्राय केवल इस पाप प्रवृत्ति का छुड़ाना है कथा के पढ़ने का फल यही होना चाहिए कि उससे कुछ शिक्षा ली जावे, केवल पढ़ना किसी काम का नहीं है। वह तो तोते का सा रटना है। अन्त में यह कहना है कि इस पापाचार से होनेवाली हानियों का विचार कर उसके छोड़ने में उद्यमशील बनो, परस्त्री की संगति से अपनी रक्षा करो और साथ ही सर्व सुखों का मूल कारण तथा चन्द्रमा की तरह शीतल जिनधर्म रत्न ग्रहण करो इससे तुम्हारा भला होगा सुख पावोगे।

छप्पय।

कुगति बहन युन गहन दहन दावानलसी है।
सुजस चन्द्र घनघटा देह कृश करन रवई है।
धन सरसोवत धूप धरम दिन सांझ समानी विपति।
भुजंग निवास बांबई वेद बरवानी,
इहि विधि जानेक औगुन भरी प्रान
हरन फांसी प्रबल मत करहू मित्र यह
जान जिय पर वनिता सौं प्रीति फल।

(भूधर शतक)

जो विचारशील महात्मा स्वर्ग और मोक्ष का सुख चाहते हैं, उन्हें इन पाप व्यसनों का संसर्ग छोड़ना चाहिए। इन व्यसनों के छोड़ने पर ही वे धर्म ग्रहण करने के पात्र हो सकेंगे, क्योंकि अविवेकी और व्यसनों के सेवन करने वालों की अच्छी गति नहीं होती। वे सर्वत्र निन्दा के पात्र होते हैं। और उनके द्वारा धर्म को भी कलंक लगता है। न मुझे व्याकरण का ज्ञान है न न्याय ही का और न मेरी पुराण काव्यों में गति है। इसलिए सम्भव है कि इस ग्रन्थ

में बहुत सी त्रुटियाँ रही होगी, विद्वानों से मेरी प्रार्थना है कि वे इस ग्रन्थ का संशोधन करें क्योंकि इसके द्वारा भी सर्व साधारण लाभ उठा सकेंगे। जो इसका अभ्यास करेंगे अथवा बार-बार मनन करेंगे और पढ़ेंगे वे सुखी होंगे। उनकी बुद्धि दिनोंदिन निर्मल होती रहेगी और पापवासना उन्हें कभी छू तक नहीं सकेंगी। नन्दी तट गच्छ में श्री नेमिसेन मुनि हो गये हैं, उनकी कृपा से मुझ मन्दबुद्धि ने यह ग्रन्थ रचा है। अब इसका विस्तार करना सज्जनों के हाथ है। मुझ मन्द बुद्धि सोमकीर्ति के बनाये हुए इस ग्रन्थ का जो श्रद्धा और भक्ति सहित स्वाध्याय करेंगे, मनन करेंगे और सुनेंगे वह नियम से सुख-सम्पत्ति के भोगनेवाले होवेंगे। विक्रम महाराज की मृत्यु के बाद १५२९ संवत में माघ सुदि प्रतिपदा सोमवार के दिन मैंने इस ग्रन्थ को समाप्त किया। जब तक संसार में मेरु पर्वत सूर्य चन्द्रमा पृथ्वी और समुद्र विद्यमान रहें तब तक इस ग्रंथ का भी प्रचार दिन दूना और रात चौगुना बढ़ता जाये। सज्जन पुरुष इसका स्वाध्याय कर अपना जीवन सफल करें।

।। शुभम्।।

प्रथम पांडवा भूप, खेलि जूआ सब खायौ।
मांस खाय वक–राय, पाय विपदा बहु रोयौ।।
विन जानैं मदपान जोग, जादौंगन दज्झे।
चारुदत्त दुख सह्यौ, वेसवा–विसन अरुज्झे।।
नृप ब्रह्मदत्त आखेटसौं, द्विज सिवभूत अदत्त–रति।
पर रमनि राचि रावन गयौ, सातौं सेवत कौन गति?।।

(भूधर–जैन शतक)

भूमिका

यह ग्रन्थ श्री सोमकीर्ति भट्टारक के संस्कृत ग्रन्थ का स्वतन्त्र–अनुवाद है। मैंने इसे अपनी शक्ति के अनुसार सरल और सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया है। आशा है कि, यह पाठकों को रुचिकर होगा।

काष्ठासंघ में नन्दीतटगच्छ नाम का एक गच्छ है। भट्टारक सोमकीर्ति इसी गच्छ में हुए हैं, जैसा कि उन्होंने ग्रन्थ के अन्त में लिखा है। इनके बनाये हुए कई ग्रन्थ हैं। जिनमें से एक प्रद्युम्न–चरित्र का हिन्दी अनुवाद छप चुका है। प्रद्युम्नचरित्र इस ग्रन्थ से पाँच वर्ष पीछे बना है। उसकी प्रशस्ति में इनकी गुरुपरम्परा इस प्रकार लिखी है—रामसेन–रत्नकीर्ति–लक्ष्मणसेन–भीमसेन और सोमकीर्ति। श्री सोमकीर्ति–विक्रम की सोलहवीं–शताब्दी के प्रारम्भ में हुए है। इससे अधिक इनके विषय में और कुछ ज्ञान नहीं हुआ।

बम्बई
१–८–१९१२

निवेदक–
उदयलाल काशलीवाल